धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का वैज्ञानिक विश्लेषण

वर्ष- 82
अंक- 10
₹- 15 प्रति
₹- 180 वार्षिक

अखण्ड ज्योति

अक्टूबर-2018

www.awgp.org

गुरु पूर्णिमा महापर्व पर गायत्रीसाधकों को
श्रद्धेया जीजी एवं श्रद्धेय डॉ. साहब द्वारा भावभरा उद्बोधन-मार्गदर्शन

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अपनी अंतरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
एवं
शक्तिस्वरूपा माता
भगवती देवी शर्मा
संपादक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
कार्यालय
अखण्ड ज्योति संस्थान
घीयामंडी, मथुरा

दूरभाष नं० (0565) 2403940
2400865, 2402574
मोबाइल नं० 9927086291
7534812036
7534812037
7534812038
7534812039
फैक्स नं० (0565) 2412273
कृपया इन मोबाइल नंबरों पर एस. एम. एस. न करें।
ईमेल-ajsansthan@awgp.org
प्रातः 10 से सायं 6 तक

वर्ष : 82
अंक : 10
अक्टूबर : 2018
आश्विन-कार्तिक : 2075
प्रकाशन तिथि : 01.09.2018
वार्षिक चंदा
भारत में : 180/-
विदेश में : 1400/-
भारत में आजीवन : 3500/-
(सुरक्षा निधि)

आत्मविश्वास

परमात्मा ने हमको इस मानवीय काया के रूप में जो अनुपम उपहार दिया है, उसकी तुलना किसी भी अन्य अनुदान से कर पाना संभव नहीं है। यह मनुष्य जीवन तब ही सफल एवं सार्थक हो पाता है, जब हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को आत्मविश्वास से परिपूर्ण करते हुए, निश्चिंतता, निर्भीकता एवं निर्द्वंद्वता के साथ व्यतीत करते हैं। यदि डरते हुए, भयभीत होते हुए, आशंकाओं से ग्रस्त होते हुए मनुष्य जीवन व्यतीत किया जाए तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? वो जीवन, जिसे प्राप्त करने के लिए देवी-देवता भी लालायित रहते हैं, यदि वो मात्र चिंताएँ करने, उलझनें बुनने एवं पश्चात्ताप करने में ही गुजर गया तो इसे एक त्रासदी का ही नाम दिया जा सकता है।

मनुष्य जीवन के रूप में मिले अवसर को सौभाग्य में बदलने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता है, उसे आत्मविश्वास के नाम से पुकारा जाता है। आत्मविश्वास भी मात्र उनके व्यक्तित्व का आभूषण बन पाता है, जिनका मन ईश्वरविश्वास से परिपूर्ण है। जिनका मन ईश्वरविश्वास से लबरेज है, जो सदा ईश्वर पर भरोसा करते हैं और जो सदा ईश्वरीय सत्ता की उपस्थिति को अनुभव करते हैं, उन्हें भला किसका डर सता सकता है? ब्लैक कैट कमांडो का एक दस्ता साथ चल रहा हो तो ही अपनी सुरक्षा की आश्वस्ति हो जाती है तो फिर जब स्वयं सर्वशक्तिमान प्रभु साथ हों तो कैसा डर और किसका भय? सत्य यही है कि आत्मविश्वास एवं ईश्वरविश्वास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अपने ऊपर परिपूर्ण विश्वास करने की सामर्थ्य मात्र उसमें होती है, जो हर आत्मा में उपस्थित परमात्मा पर अनन्य विश्वास करना जानता है।

अपने ऊपर विश्वास करने वाले ही, दूसरों के विश्वासपात्र बन पाते हैं। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने कहा ही है कि जो अपनी सहायता आप करते हैं, वे ही ईश्वरीय सहायता के हकदार बन पाते हैं। आत्मविश्वास ही मनुष्य की शक्ति का आधार है। बिना आत्मविश्वास के आज तक कोई भी अपेक्षित सफलता का अधिकारी नहीं बन सका है और न ही भविष्य में बन सकेगा। अपनी अंतरात्मा में निहित शक्ति का जागरण ही मानवीय उद्देश्य का चरमोत्कर्ष समझा जाना चाहिए। ❑

▶शक्ति संरक्षण वर्ष◀

विषय सूची

आवरण पृष्ठ परिचय

हरीतिमा विस्तार ही हमारा एकमात्र कर्त्तव्य

अक्टूबर-नवंबर, 2018 के पर्व-त्योहार

मंगलवार	02 अक्टूबर	गांधी/शास्त्री जयंती/जीवत्पुत्रिका व्रत	शनिवार	03 नवंबर	रमा एकादशी
बुधवार	03 अक्टूबर	मातृ नवमी	सोमवार	05 नवंबर	धनतेरस
शुक्रवार	05 अक्टूबर	इंदिरा एकादशी	मंगलवार	06 नवंबर	रूप चतुर्दशी
रविवार	07 अक्टूबर	परम पूज्य गुरुदेव जयंती	बुधवार	07 नवंबर	दीपावली
सोमवार	08 अक्टूबर	सर्वपितृ अमावस्या	गुरुवार	08 नवंबर	बेसतुबरस/ अन्नकूट
बुधवार	10 अक्टूबर	नवरात्रारंभ	शुक्रवार	09 नवंबर	भाई दूज
सोमावार	15 अक्टूबर	सूर्य षष्ठी	मंगलवार	13 नवंबर	सूर्य षष्ठी
शुक्रवार	19 अक्टूबर	विजयादशमी	बुधवार	14 नवंबर	बाल दिवस
शनिवार	20 अक्टूबर	पापांकुशा एकादशी	शुक्रवार	16 नवंबर	गोपाष्टमी
बुधवार	24 अक्टूबर	वाल्मीकि जयंती	शनिवार	17 नवंबर	अक्षय नवमी
शनिवार	27 अक्टूबर	करवा चौथ	सोमवार	19 नवंबर	देव प्रबोधिनी एकादशी
बुधवार	31 अक्टूबर	अहोई अष्टमी	शुक्रवार	23 नवंबर	गुरुनानक जयंती/पूर्णिमा व्रत

यह पत्रिका आप स्वयं पढ़ें तथा औरों को पढ़ाएँ। कुछ समय के बाद किसी अन्य पात्र को दे दें, ताकि ज्ञान का आलोक जन-जन तक फैलता रहे। *—संपादक*

▶शक्ति संरक्षण वर्ष◀

विशिष्ट सामयिक चिंतन

अभूतपूर्व समस्याएँ माँगती हैं अभिनव समाधान

जैसे-जैसे वर्तमान शताब्दी, अपनी युवावस्था की ओर बढ़ रही है, वैसे-वैसे मानवता के सम्मुख कुछ नूतन, कुछ नवीन चुनौतियाँ आन खड़ी हुई हैं। आज अपनी व्यस्ततम दिनचर्या की भाग-दौड़ में हम भले से इस परिवर्तन को गहराई से न भाँप पाए हों, परंतु जिस तेजी के साथ, ये परिस्थितियाँ हमारी आँखों के सामने बदलती जा रही हैं, उस दशा में आने वाला कल मानवता के सम्मुख कुछ अभिनव समस्याओं को लेकर आ खड़ा होगा। यदि आज उनके विषय में गंभीरता से न सोचा गया तो कल ये समस्याएँ इतना भयावह रूप ले चुकी होंगी कि जिसका समाधान करना भी हमारे लिए संभव न हो सकेगा।

वो कौन-सी समस्याएँ हैं, जो मानवता के अस्तित्व को चुनौती देती नजर आ रही हैं, उन्हें जानने से पहले, यह सोच लेना जरूरी है कि हमसे पहले की पीढ़ियों के सामने उनके अस्तित्व को लेकर वे कौन से यक्षप्रश्न थे, जो उन्हें सदा आशंकित व भयभीत रखते थे। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टि डालें तो संपूर्ण मानवता को आतंकित करने वाली समस्याओं में से प्रमुख समस्याओं के रूप में भुखमरी, अकाल, महामारी एवं युद्ध के नाम लिए जा सकते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी, हर देश, धर्म, संप्रदाय के लोगों के ऐतिहासिक ग्रंथ इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि जनसमुदाय इनको एक ऐसे दैवीय प्रकोप के रूप में जानता था, जिससे मुक्ति मिलनी उसे असंभव-सी लगती थी।

अकाल या भुखमरी के ही उदाहरण को लें तो करीब सौ वर्ष पहले तक अकाल की स्थिति में लाखों लोगों का मृत्यु का ग्रास बन जाना, एक सामान्य-सी घटना थी। एक छोटी भूल, व्यापार में नुकसान, प्राकृतिक आपदा, लूटमार जैसी घटना घट जाने पर भी व्यक्ति-परिवार भूखों मरते नजर आते थे, उत्पादन के संसाधन सीमित थे, यातायात धीमा व कष्टप्रद था और सरकारी व शासकीय सहायताएँ नगण्य थीं। जब यूरोप में भयंकर अकाल आया था, तब वहाँ की महारानी मेरी एंटोनिएट ने कुख्यात रूप से यह वक्तव्य दिया था कि—यदि लोगों के पास खाने के लिए रोटी नहीं है तो वो केक क्यों नहीं खाते हैं? ऐसे शासकों के होते हुए सामान्य प्रजा तड़पने व मरने के सिवा और किस भवितव्यता को प्राप्त होती?

सन् 1694 में फ्रांस में जो अकाल आया, उसका विवरण एक फ्रेंच जनरल ने अपनी डायरी में लिखा है। उसे पढ़कर आज भी अंत:करण काँप-सा उठता है। उसने लिखा है कि व्यूवोन शहर, जहाँ उसकी नियुक्ति थी, वहाँ लोगों की भुखमरी के कारण ऐसी स्थिति थी कि लोग भूख मिटाने के लिए कुत्ते-बिल्लियों, यहाँ तक कि घोड़ों को मारकर खाने में लगे थे। कुछ तो एकदूसरे के खून के प्यासे हो गए थे और नरभक्षी बन गए थे। इस अवधि में जब सन् 1692 से सन् 1694 के मध्य, करीब 28 लाख लोगों की मृत्यु फ्रांस में हुई तो उस समय फ्रांस का राजा लुई चतुर्थ, अपनी पत्नियों के साथ स्पेन में मौज-मजा करने में व्यस्त था। इससे अगले वर्ष सन् 1695 में एस्टोनिया में फैले अकाल ने उसकी जनसंख्या को चौथाई हिस्से में समेट करके रख दिया था। यही स्थिति सन् 1696 के फिनलैंड के अकाल व सन् 1695 व 1698 के स्कॉटलैंड के अकाल में हुई।

यहाँ ये सब बताने का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान सदी में चुनौतियाँ भिन्न हो चुकी हैं। आज दुनिया के ज्यादातर देशों में अकाल की समस्या से हम उबर चुके हैं। यदि व्यक्ति की नौकरी चली भी जाए या किसी भीषण दुर्घटना में उसे अपना सब कुछ गँवाना भी पड़े तब भी सरकारी या गैर सरकारी संगठनों की सहायताएँ, संयुक्त राष्ट्र संघ से लेकर यूनिसेफ, रेडक्रॉस से लेकर गायत्री परिवार तक अनेकों अंतरराष्ट्रीय संगठन, उन परिस्थितियों का त्वरित मुकाबला करने में सक्षम हैं। व्यक्ति एक या दो दिन तक बिना गुजारे के रह सकता है, परंतु ऐसी संभावनाएँ कम ही उपजती हैं, जब एक पूरा-का-पूरा देश या महाद्वीप अकाल या भुखमरी की परिस्थितियों से गुजर रहा हो। इस दृष्टि से यह समय पूर्व की परिस्थितियों की तुलना में कम चुनौतीपूर्ण है।

दुर्भाग्यवश आज की समस्या भुखमरी कम और मोटापा ज्यादा है। सन् 2014 में पूरे विश्व में मोटापे से ग्रस्त लोगों की संख्या 21 करोड़ थी, जबकि कुपोषण का शिकार लोगों की संख्या 8 करोड़ भी नहीं थी। शोध आँकड़ों के अनुसार, सन् 2030 तक विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या इतनी मोटी हो चुकी होगी कि उनमें से 80% को हृदय रोगों का सामना करना पड़ रहा होगा। सन् 2010 में भुखमरी व कुपोषण से मरने वालों की संख्या 8 लाख थी तो मोटापे के कारण मरने वालों की संख्या 30 लाख थी। स्पष्ट है कि इस सदी की चुनौतियाँ बदल चुकी हैं।

इसी क्रम में एक दूसरा उदाहरण महामारियों का है। सन् 1330 में फैले प्लेग के प्रकोप को ही लें तो उस समय इस अकेली महामारी ने, जिसे इतिहासकारों ने 'ब्लैक डेथ' कहा—यूरोप में 6.5 करोड़ से लेकर 20 करोड़ तक की आबादी को पूर्णतया नष्ट कर दिया था, जो कि पूरे यूरेशिया की एक-चौथाई आबादी थी। अकेले इंग्लैंड की जनसंख्या उस प्लेग के प्रकोप से आधी होकर रह गई थी। इसी प्रकार सन् 1520 में मेक्सिको में फैले 'स्मॉल पॉक्स' ने पूरे मेक्सिको की आधी से अधिक जनसंख्या को समाप्त करके रख दिया था। वहाँ के स्थानीय निवासी इसके लिए एकपेट्ज, उजनकाक और सोजाकाक नामक देवताओं को दोषी मानते रहे व उनकी पूजा करते रहे जबकि इस अवधि में उनकी जनसंख्या 10 वर्ष के अंदर 22 लाख से घटकर 2 लाख रह गई।

ऐसी ही घटना हवाई में 'फ्लू' के फैलने से हुई। यह क्रम प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध तक यों ही चलता रहा, जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध में मरने वाले सैनिकों की संख्या 4 करोड़ थी तो 'स्पेनिश फ्लू' से मरने वालों की संख्या 5 से 10 करोड़ थी। फिर ये तो मात्र एक महामारी के आँकड़े हैं, यदि ऐसी सभी बीमारियों को गणना में लिया जाए तो उनके द्वारा बरपाए गए कहर का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है। इसके विपरीत आज परिस्थितियाँ बहुत हद तक बदल गई हैं। जैसे-जैसे चिकित्सा के क्षेत्र में प्रगति हुई है, टीकाकरण बेहतर हुआ है, एंटीबायोटिक एवं अन्य औषधियों की खोजें हुई हैं, स्वच्छता में बेहतरी हुई है; वैसे-वैसे महामारियों के इस प्रकोप से मानव को सुरक्षा भी मिली है और उसकी आयु भी लंबी हुई है।

सन् 1975 में इन्हीं प्रयासों के कारण विश्व स्वास्थ्य संगठन यह घोषणा कर पाने में सफल हो सका कि 'स्मॉल पॉक्स' को धरती से विदा कर दिया गया है। यद्यपि सार्स वायरस, बर्ड फ्लू वायरस, इबोला, स्वाइन फ्लू जैसी चुनौतियाँ अब भी हमारे सामने हैं, परंतु वे पूर्व की चुनौतियों की तरह महाविनाशक नहीं हैं। सार्स अकेले के कारण कुल हुई मौतें 1000 हैं, जो स्पेनिश फ्लू से प्रभावित व्यक्तियों की तुलना में नगण्य कही जा सकती हैं, परंतु पिछले उदाहरण की भाँति इसकी चुनौतियाँ भी भिन्न हैं। अब मृत्यु, महामारियों की वजह से नहीं, बल्कि हृदय रोगों व कैंसर के कारण अधिक होती है। उन बीमारियों के कारण सामान्य रूप से वो हैं, जिन्हें हम जीवनचर्या के या लाइफ स्टाइल विकृति के रोग मानते हैं। इस सदी में हमें इस दूसरे असुर से सावधान रहने की जरूरत है।

तीसरी समस्या जो हमारे पूर्वजों ने झेली, वह युद्ध व विग्रहों की रही। एक लंबे समय तक धरती पर 'जिसकी लाठी-उसकी भैंस' का सिद्धांत विराजमान रहा। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इस मानवीय चुनौती पर भी रोक-थाम-सी लगती नजर आ रही है। जहाँ आज से सौ वर्ष पहले युद्ध व उसके समानांतर विभीषिकाएँ विश्व की 15% मौतों का कारण थीं, वहीं आज ये मात्र 0.5% की जिम्मेदार हैं। इसके विपरीत आज अपराध बढ़ गए हैं। जहाँ युद्धों से सन् 2012 में हुई मौतें 1200 थीं तो वहीं अपराधों के कारण हुई हत्याएँ 50,0000 मौतों के लिए जिम्मेदार थीं। इससे भी ज्यादा बढ़कर 80,0000 लोगों को शिकार बनाने का कारण आत्महत्या थी तो वहीं डायबिटीज से मरने वाले 15 लाख थे। आज की परिस्थितियों में शक्कर, बारूद से भी ज्यादा जानलेवा हो गई है।

स्पष्ट है कि वर्तमान सदी की चुनौतियाँ, विगत इतिहास की चुनौतियों से पूर्णतया भिन्न हैं और इनके समाधान भी इसीलिए पूरी तरह भिन्न हैं। आज मानवीय समस्याएँ बाहरी परिस्थितियों के कारण कम, आंतरिक परिस्थितियों के कारण ज्यादा हैं। ऐसे में उनका समाधान भी आत्मिक स्तर पर किए गए प्रयासों से ही संभव है। आहार, विहार व आचरण की शुद्धि जिसे परमपूज्य गुरुदेव ने आंतरिक कायाकल्प का नाम दिया, उसे अपनाकर ही इन समस्याओं का समग्र व सटीक समाधान संभव हो सकता है। वही इन नूतन समस्याओं का अभिनव समाधान है।

❑

नारी शक्ति का अभ्युदय

भारतीय संस्कृति का आधारस्तंभ, भारतीय नारियों को कहा जा सकता है। भारतीय नारियों ने अपने प्राणों को गँवाने के बाद भी भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह को अविरल एवं अक्षुण्ण बनाए रखा है। भारतीय संस्कृति ने भी नारियों को देवी समान स्थान दिया और धरती माँ से लेकर भारतमाता के रूप में तथा माँ गंगा से लेकर माँ गायत्री के रूप में सामाजिक परिवेश के प्रत्येक क्षेत्र में नारियों के ही आदर्श को जनसामान्य के सम्मुख रखा है। भारत ही संभवतया ऐसा अकेला राष्ट्र है, जहाँ नारी शक्ति को देवताओं से पहले रखकर पूजने की परंपरा रही है। सीताराम, गौरीशंकर, राधागोविंद जैसे श्रद्धासिक्त संबोधन उसी परिपाटी का प्रतीक कहे जा सकते हैं।

नारियाँ अपरिमित शक्ति एवं क्षमता संपन्न हैं। मानवीय जीवन का कोई भी आयाम लिया जाए, प्रत्येक में भारतीय नारियों द्वारा कुछ ऐसे कीर्तिमान स्थापित किए गए हैं, जिन्हें विश्व इतिहास में किसी भी व्यक्तित्व से तौलकर देखा जाए तो वे सदा श्रेष्ठ ही सिद्ध होंगे। बुद्धिमत्ता का प्रतीक गार्गी या अपाला हों, साहस का प्रतीक रानी लक्ष्मीबाई या रानी अहिल्याबाई हों, संघर्ष का प्रतीक माँ सीता या सती सावित्री हों, अथवा व्रतशीलता का प्रतीक गांधारी या अनसूया हों—भारतीय इतिहास के प्रत्येक अध्याय में नारी शक्ति, अपना विजयध्वज फहराती दीख पड़ती है। शक्ति संरक्षण का यह वर्ष, बिना नारी शक्ति की अभ्यर्थना के पूर्ण नहीं हो सकता।

परम वंदनीया माताजी का जीवन आदर्श प्रत्येक गायत्री परिजन के सम्मुख है तथा उन्हें ही प्रेरणास्रोत मानते हुए प्रत्येक भारतीय नारी को उनके अंदर निहित शक्ति को जगाते हुए, एक संकल्प लेकर आगे बढ़ने की आवश्यकता, इस वर्ष है। कुछ ऐसी ही अन्य प्रसिद्ध भारतीय नारियों के व्यक्तित्वों को यहाँ बताया जा रहा है, ताकि उन प्रातःस्मरणीय नारियों का व्यक्तित्व, इस वर्ष हमारे अंतस् में शक्ति जागरण का उद्‌देश्य पूरा कर सके।

ऐसा ही एक दिव्य व्यक्तित्व माँ सीता के रूप में हमारे सामने है। स्वयं माँ भगवती का अवतारी रूप माँ सीता—पवित्रता, पावनता, शीतलता के एक ऐसे शक्तिस्रोत के रूप में हमारे सम्मुख हैं कि उनके व्यक्तित्व की अन्यत्र तुलना कर पाना संभव ही नहीं है। राजसी ठाठ-बाट में पली होने के बाद भी जब भगवान राम ने वनगमन को स्वीकारने का निश्चय किया तो माँ सीता के पग, एक क्षण के लिए भी नहीं ठिठके। एक सच्ची पतिव्रता, उनकी सहगामिनी के रूप में माँ सीता का व्यक्तित्व अप्रतिम ही कहा जा सकता है। जब रावण, छल से सीता माँ का अपहरण कर उन्हें लंका ले गया और अशोक वाटिका में राक्षसियों के पहरे के मध्य उनको बिठाकर उनसे मिलने आया और उनसे विवाह करने के अपने क्षुद्र प्रस्ताव को अनेक प्रलोभनों के माध्यम से सीता माँ के सम्मुख रखने लगा तो उन्होंने उत्तर दिया—

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥
उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥
विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥

अर्थात—हे रावण! तू मुझे धन या लोभ से वश में नहीं कर सकता। मैं श्रीरामचंद्र जी से उसी प्रकार अलग नहीं हो सकती हूँ, जैसे सूर्य की प्रभा, सूर्य से अलग नहीं हो सकती। सबको विदित है कि भगवान राम धर्मों के ज्ञाता हैं और शरण में आए हुए पर सदा कृपा करते हैं। इसलिए यदि तू जीवन चाहता है तो उनकी शरण में जा एवं उनका कृपापात्र बन। वर्तमान समय की कलुषित परिस्थितियों में माँ सीता जैसी पतिपरायणता, साहस एवं तेजस्विता की शक्ति का जागरण प्रत्येक भारतीय नारी को करने की आवश्यकता है।

ऐसा ही एक और प्रेरणास्पद व्यक्तित्व सती सावित्री का है। सर्वविदित है कि उन्होंने पति रूप में सत्यवान का चयन किया और जब देवर्षि नारद ने यह कहकर उनके विश्वास की परीक्षा लेनी चाही कि सत्यवान की आयु मात्र एक वर्ष और है, अतः वो किसी अन्य वर का

चयन कर लें तो यह सुनकर सती सावित्री ने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया—''देवर्षि! भारतीय नारी मात्र एक बार अपने हृदय को अर्पित करती है। यदि अपने सतीत्व की रक्षा के लिए मुझे मृत्यु से भी जूझना पड़ेगा तो मैं वह भी करने को तैयार हूँ।''

जब वह दिन आया, जिस दिन स्वयं भगवान यम सावित्री के पति सत्यवान का जीवन लेने, वन में पहुँचे तो सावित्री भी उनके पीछे चल पड़ी। यम के मना करने पर भी सावित्री नहीं डगमगाई और यह कहकर साथ चलती रही कि जहाँ मेरे पति जा रहे हैं या दूसरा कोई उन्हें ले जा रहा है—मैं वहीं जाऊँगी। यम ने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान रूप में उनके अंधे श्वसुर को आँखें दीं, साम्राज्य दिया और सावित्री से कहा कि अब वो लौट जाए, परंतु उस स्थिति में भी देवी सावित्री ने उत्तर दिया—

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम॥

अर्थात—मैं बिना पति के सुख नहीं चाहती, बिना पति के स्वर्ग नहीं चाहती, बिना पति के धन नहीं चाहती और मैं बिना पति के जीवन भी नहीं चाहती। उनकी निष्ठा व संकल्प के आगे भगवान यम को भी हार माननी पड़ी और सत्यवान को जीवित करना पड़ा। अपने संकल्प के आगे मृत्यु को भी परास्त करने वाली शक्ति का प्रतीक भारतीय नारियाँ रहीं हैं। इस शक्ति संरक्षण वर्ष में भारतीय नारियों को एक वैसी ही शक्ति अपने भीतर जगाने की आवश्यकता है।

भारतीय इतिहास के इन गौरवशाली पृष्ठों पर एक और जाज्वल्यमान तारक के रूप में सती अनसूया का उदाहरण देखने को मिलता है, जो महर्षि अत्रि की पतिव्रता पत्नी थीं। प्रसिद्ध कथा है कि एक बार ब्रह्माणी, गौरी एवं लक्ष्मी में तय हुआ कि सती अनसूया के पातिव्रत धर्म की परीक्षा लेने के लिए अपने-अपने पतियों, यथा भगवान ब्रह्मा, भगवान शिव एवं भगवान विष्णु को भेजा जाए। जब त्रिमूर्ति सती अनसूया के सम्मुख साधु वेश में पहुँचे तो उन्होंने उनको भोजन प्रदान किया। तीनों देवों ने माँ अनसूया को धर्मसंकट में डालने के उद्देश्य से एक विचित्र शर्त रखी कि वे भोजन तभी ग्रहण करेंगे, जब माँ अनसूया निर्वस्त्र होकर भिक्षा दें।

माँ अनसूया ने परमात्मा को स्मरण करते हुए कहा कि यदि मेरा पातिव्रत धर्म आज तक अटूट रहा है तो आप उसे सदा अक्षुण्ण रखें और साथ ही सामने खड़े साधुओं की मर्यादा भंग न हो, इस हेतु इन तीनों को शिशुवत् कर दें, ताकि मैं अपने धर्म से विमुख हुए बिना इनकी वचनपूर्ति कर सकूँ। इतिहास साक्षी है कि उनके संकल्प में इतना बल था कि सृष्टि के तीनों नियंता देवता, तुरंत ही बालरूप में आ गए। आज भारतीय समाज को ऐसी ही संकल्प की धनी नारी शक्ति की आवश्यकता है कि जिसके संकल्प बल के आगे स्वयं त्रिमूर्ति को झुकना पड़े।

ऐसी ही नारी शक्ति के उदाहरणों के रूप में सती दमयंती, सती शांडिली, माँ अरुंधती, देवी देवहूति जैसी प्रसिद्ध नारियों के नाम भारतीय शास्त्रों में देखने को मिलते हैं, जिनमें से प्रत्येक का जीवन एक अतुलनीय शक्ति का प्रतीक था। शक्ति संरक्षण के इस वर्ष में भारत की नारी शक्ति को जागने की एवं दूसरों को जगाने की आवश्यकता है। यदि इस देश की देवियाँ जाग गईं तो यह युग स्वयं ही बदलता चला जाएगा। ❑

वृद्धावस्था तथा लकवे की बीमारी के कारण श्री राजनारायण बसु को वृद्धाश्रम रहने जाना पड़ा। उनके प्रिय शिष्य अश्विनी को पता चला कि गुरु बीमार हैं तो वे तुरंत उनके दर्शनों को गए। राजनारायण उनको देखकर पूर्ण स्वस्थ की भाँति ईश्वरचर्चा करने लगे। यह देखकर अश्विनी ने पूछा—''आपको ईश्वर ने इतना कष्ट दिया, फिर भी आप उसी के गुण गा रहे हैं।'' राजनारायण बोले—''अश्विनी! तू उन्हें दोष न दे। ईश्वर तो सब कुछ अच्छे के लिए करते हैं। इस स्थिति में भजन करने की सुविधा और हो गई है। आज तक उसने मुझे इतने सुख दिए, थोड़े दुःख से मेरी क्या हानि हो जाएगी।'' अपने गुरु की अटूट ईश्वरनिष्ठा देख अश्विनी नतमस्तक हो उठे।

लंबे व घने वृक्षों से घिरे इस जंगल की दशा ठीक एक ही समान जान पड़ती थी। समय चाहे दिनमान का हो या रात्रिकाल का, इस क्षेत्र में तो निशा की गहराती अँधियारी ही अपना बसेरा डाले रहती। सूर्यदेव चाहे जिस भी दिशा में उपस्थित हों, उनके लिए भी इस जंगल के मध्य अपनी किरणों के माध्यम से झाँक पाना लगभग असंभव ही होता। वे नित्य ही इस जंगल के सीमित दायरे में उपयुक्त पोषण प्रदान किए बिना चले जाते।

वन के निकटतम इलाकों में विभिन्न जनजातियाँ निवास करती थीं, जो जंगली जीवों से तालमेल बिठा अपना गुजारा करतीं और विभिन्न गतिविधियों में निरत रहती थीं। धार्मिक आयोजनों की कड़ी में आज कुछ गृहस्थ भक्तों द्वारा अपने सामूहिक अनुष्ठान की समाप्ति पर साधुओं-ब्राह्मणों हेतु विशाल भोज का आयोजन किया गया था, जिसमें कि सुदूरवर्ती क्षेत्रों से सिद्ध महात्माओं-तपस्वियों को सादर आमंत्रण के साथ ही उन सभी से अपना विशेष आशीष प्रदान करने एवं प्रसाद ग्रहण करने हेतु विनम्र आग्रह भी किया गया था।

अपनी-अपनी सुगमता एवं सुलभता के आधार पर सुदूरवर्ती क्षेत्रों से साधु व तपस्वीगण आयोजन स्थल पहुँच अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर रहे थे तो वहीं सिद्ध गुरु गोरखनाथ भी विशेष आमंत्रण पर इस पावन आयोजन की सफलता में अपनी शुभकामनाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से अपने एक शिष्य संग आयोजन स्थल की ओर निकले। अनेकानेक अलौकिक ऋद्धि-सिद्धियों के ज्ञाता होने के बावजूद गुरु गोरखनाथ अपनी सहजता बनाए रख कभी भी अकारण शक्ति-प्रदर्शन नहीं किया करते थे व आमजन की ही भाँति प्रकृति की विधि-व्यवस्था का पालन किया करते थे। आज की यात्रा उनकी इसी स्वाभाविकता को लिए थी, जिसका अनुसरण उनका शिष्य मूक अवस्था में मन-ही-मन इष्टमंत्र जपते किए जा रहा था।

जंगल की उसी सघनता में प्रविष्ट होते ही गुरु गोरखनाथ थोड़ा ठिठके व कुछ विचारते दिखलाई पड़े। शिष्य भी दिशा की अस्पष्टता के प्रति संदेह प्रकट करते हुए गुरु से निवेदन स्वरूप कहने लगा—''गुरुदेव! संभवतः हम मार्ग से भटक गए हैं।'' गुरु गोरखनाथ शिष्य को गंभीरतापूर्वक देखते हुए बोले—''नहीं वत्स! मेरे समक्ष मार्ग व प्रयोजन, दोनों ही स्पष्ट हैं।'' यह कहते हुए गुरु गोरखनाथ ने नेत्र मूँद लिए व कुछ ही क्षणों में ध्यान की-सी अवस्था में अर्द्धउन्मीलित नेत्रों से कुछ देखते धीमी आवाज़ में कहने लगे—''मुझे तो इस पीपल की ठीक सीध में वह ग्राम दिखाई दे रहा है, जहाँ पर्याप्त भीड़ है व आयोजन के मध्य साधुओं समेत कई ग्रामवासियों की चहलकदमी भी सुनाई पड़ती है। साथ ही वहीं कुछ भोज्य पदार्थों की सुगंध भी मुझ तक पहुँच रही है।''

दूरदृष्टिसंपन्न गुरु गोरखनाथ यह देख कुछ आनंदित हो उठे तो वहीं इस विस्मयकारी घटना को देख शिष्य के मन में कुछ कुतूहल उत्पन्न हुआ। अभी तक उस शिष्य ने इस प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों के बारे में शास्त्रों में पढ़ा था, किंतु प्रत्यक्ष घटनाओं में इनके सम्यक प्रयोग को नहीं देखा था, सो अपनी उत्सुकता मन में दबाए वह पुनः अनुसरण करने लगा। शिष्य यह देखकर और भी आश्चर्यचकित हो गया कि उसके गुरु जंगल की सुगम पगडंडी को छोड़ एक दूसरे दुर्गम से दिखने वाले अनजाने मार्ग पर चल पड़े। कुछ ही समय पश्चात गुरु गोरखनाथ व उनके शिष्य आयोजन स्थल पर पहुँच गए।

यात्रा की कुल थकान, यात्रा के दौरान घटित घटनाओं से कम थी; क्योंकि बीते समय के घटित घटनाक्रमों के साक्षी शिष्य ने गुरु द्वारा बताए मार्ग समेत आयोजन स्थल के परिदृश्य से संबंधित सभी विवरणों को अक्षरशः सत्य पाया। आवश्यक पूजन कर्म के पश्चात भोजन हेतु उपस्थित गणमान्य साधुओं के संग ही गुरु गोरखनाथ बैठने ही वाले थे कि उन्होंने शिष्य से धीमी आवाज में आयोजकों से भोजन की बैठक व्यवस्था के स्थानांतरण के लिए निवेदन करने हेतु कहा।

आयोजकों ने इसका कारण जानना चाहा तो गुरु गोरखनाथ ने कहा कि भूमि के भीतर मृतकों की अस्थियों

का ढेर है, इसीलिए यह स्थान भगवान के प्रसाद को ग्रहण करने हेतु उचित नहीं। आयोजकों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतने लंबे समय से उस इलाके में रहने के बावजूद भी उन्हें इस बात की कोई जानकारी नहीं थी। वे उनकी आज्ञा मान अन्यत्र बैठक व्यवस्था बना कुतूहलवश भूमि को खोद वास्तविकता का पता लगाने की कोशिश करने लगे। शिष्य भी गुरु की समुचित व्यवस्था बना अपनी उत्सुकता और जिज्ञासा की पूर्ति हेतु वहाँ स्वयं उपस्थित हो गया।

कुछ ही गहराई तक खोदने पर मृतक जानवरों के अवशिष्ट अंग दीख पड़े, जिन्हें देखते ही सभी लज्जित हुए व गुरु गोरखनाथ का मन-ही-मन आभार प्रकट करने लगे। विस्मयकारी घटनाओं से भरी आज की यात्रा का साक्षी शिष्य विस्मित था। गुरु के सिद्धत्व के संबंध में उसका संदेह अब पूर्णतः तिरोहित हो चुका था। अब उसे अपने गुरु की शक्ति का बोध हुआ। आश्रम वापसी पर एकांत के क्षणों में गुरु के समक्ष उपस्थित हो एक दिन अपने महान गुरु के पद्मचरणों में मस्तक रखकर उसने इन सिद्धियों का रहस्य जानने की इच्छा प्रकट की।

''ये कोई सिद्धियाँ नहीं हैं, यह तो स्वाभाविक शक्ति है।''—गुरु गोरखनाथ ने शिष्य को स्नेह भरी दृष्टि से निहारते हुए समझाया। वे शिष्य को संबोधित करते हुए आगे बोले—''आदिशक्ति ने किसी से पक्षपात नहीं किया है। सबको समान शक्ति प्रदान की है। गिद्ध की दृष्टि, चीटियों की घ्राणशक्ति, हंस की रसना, श्वान का श्रवण, अंधों की स्पर्श शक्ति और मकड़ी का कालज्ञान सर्वविदित हैं। उपयोग न करने से इन सब की स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है और उन पर कर्म संस्कारों का मल एकत्र हो जाता है, पर तपस्या के द्वारा अशुद्धि दूर होने पर मनुष्य की शक्तियाँ पुनः जाग्रत हो उठती हैं।''

समर्थ गुरु ने यह भाँप लिया था कि शिष्य में सिद्धियों के प्रति अनावश्यक उत्सुकता व कुतूहल है, पर उनके लिए ये कोई महत्त्व की वस्तुएँ नहीं थीं, इसलिए उन्होंने शिष्य को समझाया—''गिद्धादि पक्षी बनने की अपेक्षा तुम्हें मानवीय चेतना के स्तर से ऊपर उठना है और वह दिव्य बोध प्राप्त करना है, जो इस जीवन का लक्ष्य है। तुम्हारी शक्ति का उपयोग उसी के लिए होना चाहिए। इन बाजीगरी के कौतुकों के लिए नहीं।'' उस समय तो शिष्य ने गुरुदेव के वचनों को स्वीकार कर लिया, पर उसके हृदय से वह उत्सुकता गई नहीं।

गुरु गोरखनाथ की पारखी दृष्टि ने इतना तो ताड़ ही लिया था कि शिष्य सतही तौर पर कितना ही झूठा आश्वासन दे, किंतु इसे ऋद्धि-सिद्धियों की निस्सारता एवं जीवन के वास्तविक लक्ष्य के बोध हेतु मेरे वचनों से कहीं अधिक कड़ुए व्यावहारिक अनुभव की आवश्यकता होगी। साधना से सिद्धि का सिद्धांत सर्वसुलभ है, किंतु इसकी प्राप्ति में मात्र पुरुषार्थ ही नहीं, बल्कि गुरुकृपा व प्रकृति की अनुकूलता भी मायने रखती है, सो वह तो मिल ही चुकी थी।

इसी क्रम में योजनाबद्ध रीति से कुछ अनुकूलता भरी ढील दे, आवश्यक शिक्षा देने के उपरांत गुरु गोरखनाथ ने शिष्य को सफलता का आशीष प्रदान कर तपस्या करने नेपाल की तराई के एक उपयुक्त वन में भेज दिया। गुरु के परोक्ष मार्गदर्शन में दीर्घकालीन तपश्चर्या के फलस्वरूप योग की विभिन्न ऋद्धि-सिद्धियाँ उसे हस्तगत हुईं। समय अब आराधना का था, सो गुरु का आदेश था कि समाज में जाकर अपनी सामर्थ्यानुसार मानवता की सेवा में संलग्न हो जाओ, जो कि कालांतर में समाज में तुम्हें आत्मस्वरूप के दर्शन करा स्वयमेव अस्तित्व के विस्तारस्वरूप विश्वमानव से जोड़ पूर्णतः के लक्ष्य तक पहुँचाएगी।

अध्यात्म का पथ छुरे की धार पर चलने के समान होता है, जिसमें कि व्यक्तित्व में छिपी छोटी-से-छोटी दुर्बलता भी पतन को निमंत्रित कर सकती है। जनसेवा के पारमार्थिक प्रयोजन हेतु निकले इस शिष्य को अहंकार ने दर्प-प्रदर्शन हेतु उकसाया तो अपनी अलौकिक सामर्थ्य के प्रयोग द्वारा झूठी शान मनवाने का सिलसिला चल पड़ा। गरमी के दिन थे, आम पकने लगे थे, सो उस तपस्वी ने पास के वृक्ष के शिखर पर चमकता एक बड़ा पीला आम लाने का आदेश दिया। चढ़ने को एक व्यक्ति चढ़ गया, पर वह आम बहुत दूर सीधी डाल पर था, वहाँ चढ़ना बहुत कठिन था। डाल हिलाने पर कई कच्चे फल गिरे, पर वह नहीं गिरा। ''व्यर्थ में कच्चे फल मत गिराओ।''—उसने आदेश दिया।

विवश होकर लंबे बाँस की खोज होने लगी, पर सच्ची बात तो यही थी कि उसको चमत्कार दिखाना था। ''मैं स्वयं तोड़ दूँगा।''—ऐसा कहकर वह उठा और उसका शरीर लंबा होने लगा। लंबा होकर उसने हाथ से ही फल को तोड़ा। फल एक भक्त को जो सबमें अधिक संपन्न जान पड़ता था, प्रसाद रूप में दिया गया। शरीर

अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गया। इस चमत्कारिक घटना के उपरांत उसके समीप भीड़ जुटने लगी। जनता तिल का ताड़ तो चुटकी बजाते करने लग जाती है, सो चर्चा होने लगी कि वह साधक तो पत्थर को मनुष्य और बाघ को बछड़ा आदि बना देते हैं। सबके मन की बात बतला देते हैं। रोगी रोग से त्राण पाने, दरिद्र धन पाने, संतानहीन पुत्र पाने के लिए एवं इस प्रकार लोग अपनी-अपनी कामनापूर्ति के लिए आने लगे। प्रसिद्धि के साथ मायास्वरूप धन-दौलत भी एकत्र होने लगी। भव्य मठ तो बन ही गया था, बगीचा भी लग गया था एवं आगंतुकों के ठहरने के लिए धर्मशाला की नींव भी पड़ गई थी।

दुरुपयोग का सिलसिला चल पड़ा था। थोड़ी ही सेवा बन पड़ी थी कि समाज के सत्कार को पचाना अब दूभर मालूम होने लगा था। तेज गति से चारों और फैली इस माया के आवरण में जीवन का मूल दर्शन छूटा व प्रकारांतर में अर्जित शक्ति-सामर्थ्य भी चुकने लगी और पतन-पराभव का सिलसिला आरंभ हो चला। अब बारी थी प्रकृति के दिए मूल्य को चुकाने की। लोग तो लोग ही ठहरे, जब तक काम बनता है, तब तक पूजते हैं। नहीं तो प्रतिकूलताओं में भगवान को भी कोसने में वे नहीं चूकते, सो इस सिद्ध की तो बिसात ही क्या थी। सारा यश, अपयश में परिवर्तित होने लगा। शिष्य द्वारा प्रकृति की शक्तियों के बेतरतीब दोहन के परिणामस्वरूप यह दुर्गति हस्तगत हुई। शिष्य की दशा ऐसी थी कि मात्र गुरु की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय न था। वह व्याकुल अवस्था में वन की ओर बच-बचाकर भागा।

सौभाग्यवश गुरु गोरखनाथ निकट ही घाघरा नदी के दूसरे तट पर एक वटवृक्ष के नीचे वट की सघन छाया में एक शिला पर व्याघ्रांबर डाले शांत बैठे थे। धूनी जल रही थी और चिमटा गड़ा हुआ था। दोनों कानों में विशाल मुद्रिकाएँ झूल रही थीं। गुरु भी क्या, जो शिष्य के अंतस् व बाहर का प्रतिपल ज्ञान न रख सके। सो पूर्व सुनिश्चित योजनानुसार उपयुक्त समय देख शिष्य की कामनाओं पर अंतिम प्रहार कर उसकी सुप्त चेतना को जगाने के प्रयोजन से वे वहाँ उपस्थित थे।

पूरे चौदह वर्ष के पश्चात शिष्य को सुयोग मिला कि वह अपने गुरुदेव के श्रीचरणों में उपस्थित हो सका। शिष्य ने गुरुचरणों में शीश झुकाया व बच्चों की भाँति सर्वज्ञ गुरुदेव के समर्थ श्रीचरणों में फूट-फूटकर रोने लगा। बीते अनुभव शिष्य हेतु पर्याप्त थे। अश्रुओं के माध्यम से जहाँ चेतना पर छाया संपूर्ण मल छँटा, वहीं गुरु के दिव्य स्पर्श ने उसके भीतर यथार्थ ज्ञान की चेतना को प्रकाशित कर दिया।

वास्तव में बोध को शब्दों की आवश्यकता नहीं होती; यह तो आत्मा की अनंत गहराइयों से फूटता है और तत्क्षण ही संपूर्ण जीवन को प्रकाशित कर देता है। तब भी शिष्य को जीवन-दिशा दिखाने के उद्देश्य से गुरु गोरखनाथ बोले—"वत्स ! पशु और जड़ बनने के लिए यह तपस्या थोड़े ही की थी? तेरा हाथ कितना भी लंबा हो जाए, पेड़ से लंबा नहीं हो सकता और मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए अध्यात्म पथ थोड़े ही है। यह पथ सिद्धियों के अर्जन का नहीं, सिद्धत्व के अर्जन का है। बस, तुझे इतना ही बताने मैं लौटा था। अब फिर चौदह वर्ष बाद मिलूँगा।" गुरु गोरखनाथ ने चिमटा और व्याघ्रांबर उठाया और सघन वन में विलीन हो गए। वे पुनः चौदह वर्ष बाद उस शिष्य को मिले या नहीं यह तो पता नहीं, पर इतिहास साक्षी है कि अपने आराध्य गुरु के बताए मार्ग पर सिद्धनाथ ने शाश्वत सिद्धि पाई थी और अपने गुरुदेव के समान ही महानता के शिखर पर पहुँच सके थे। यही अध्यात्म का सच्चा मर्म है। ❑

एक राजा ने गुलाम खरीदा। उसका नाम पूछने पर वह बोला—"आप जिस नाम से पुकारेंगे, वही मेरा नाम होगा।" राजा ने पूछा—"तू क्या खाएगा, क्या पहनेगा?" उसने कहा—"जो आप खिला दें और जो आप पहनने को दे दें।" राजा ने पूछा—"तू काम क्या करेगा?" उसने कहा—"जो आप कराएँ।" राजा ने पूछा—"तू चाहता क्या है?" वह बोला—"गुलाम की अपनी कोई चाह नहीं होती। जो आपकी चाह है, वही मेरी चाह है।" राजा उसे हृदय से लगा कर बोले—"मैं तुझे अपना गुरु मानता हूँ; क्योंकि तूने मुझे बता दिया कि परमात्मा के सेवक को कैसा होना चाहिए? उसे भी अपनी चाह मिटाकर प्रभु की इच्छानुसार काम करना चाहिए।"

पर्व विशेष

मर्यादा पुरुष के जीवन से कुछ सीखें हम

बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक विजयादशमी का पर्व भगवान श्रीराम के विजयोत्सव के रूप में हर वर्ष मनाया जाता है। इस दिन रामलीला के माध्यम से उन घटनाक्रमों का स्मरण किया जाता है, जो राम-रावण युद्ध से संबंध रखते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के मर्यादित जीवन को लोग आज भी आदर्श मानते हैं और रामायण, रामचरितमानस आदि के माध्यम से उसे स्मरण करते रहते हैं। राम-रावण युद्ध से यह संदेश लिया जाता है कि धर्म की निश्चित रूप से विजय होगी और अधर्म इसके समक्ष पराजित होगा।

सदियों पुरानी रामकथा आज भी हमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के पुरुषार्थ का स्मरण कराती है। उनके इसी पुरुषार्थ के कारण भारतीय संस्कृति सामाजिक व धार्मिक रूप से अक्षुण्ण रह सकी और इस संस्कृति को नुकसान पहुँचाने वाले असुरों व राक्षसों का समूल विध्वंस हुआ। यही कारण है कि रामकथा आज भी जनमानस के मन-मस्तिष्क में गंगा की अविरल धारा के समान प्रवाहमान है।

इसका श्रेय गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित श्रीरामचरितमानस को जाता है, जिन्होंने श्रीराम के संपूर्ण जीवन चरित्र, विशेषकर पारिवारिक चरित्र व सामाजिक, राजनीतिक संस्कारों को आमजन की भाषा में जन-जन तक पहुँचाया। इसके माध्यम से उन्होंने न केवल समाज में एक आदर्श व्यक्तित्व की स्थापना की, अपितु मानस में निहित दोहों व चौपाइयों के माध्यम से उन्होंने भारतीय संस्कृति, जीवनशैली, संसार व आध्यात्मिकता के अनेक पहलुओं को स्पर्श किया और बखूबी उनका वर्णन किया।

तुलसी के मानस में भगवान श्रीराम केवल एक धनुर्धारी योद्धा ही नहीं हैं, अपितु एक लोकतांत्रिक राजा भी हैं, जिनके लिए प्रजा का सुख सबसे पहले है। श्रीराम ने अखंड भारत का निर्माण किया, उन्होंने अयोध्या से लेकर लंका तक के विशाल भू-भाग पर विजय प्राप्त की और अपनी प्रजा को ही प्राथमिकता पर रखा। उनके राज्य में प्रजा अत्यंत सुखी थी। गोस्वामी जी श्रीरामचरितमानस के उत्तरकांड में कहते हैं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

अर्थात—रामराज्य में दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसी को नहीं व्यापते थे। सब मनुष्य परस्पर प्रेम करते थे और वेदों में बताई हुई नीति (मर्यादा) पर तत्पर रहकर अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। रामराज्य में केवल मनुष्य ही मर्यादित नहीं थे, अपितु प्रकृति भी संतुलित व मर्यादित थी। गोस्वामी जी कहते हैं कि—

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

अर्थात—श्रीरामचंद्र जी के राज्य में चंद्रमा अपनी अमृतमयी किरणों से पृथ्वी को पूर्ण कर देते हैं। सूर्य उतना ही तपते हैं, जितने की आवश्यकता होती है और मेघ माँगने से, जब जहाँ-जितना चाहिए, उतना ही जल देते हैं।

रामकथा में भगवान श्रीराम कई चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों का सामना करते हैं, जैसे—युवराज घोषित होने के बाद राजतिलक के निर्णय के बावजूद वनगमन की विषम स्थिति उनके समक्ष आती है और वे पिता के वचन का मान रखते हुए उनकी आज्ञा को प्राथमिकता देते हुए पारिवारिक मूल्यों को स्थापित करते हैं। इस घटनाक्रम के हजारों साल के बाद भी पारिवारिक मूल्यों को प्रतिस्थापित करने का यही मानक आज भी हमारे समक्ष है।

भगवान श्रीराम का वनवास कोई सरल व सहज घटना नहीं थी। यह अत्यंत कष्टपूर्ण यात्रा थी। ऐसी यात्रा में जब उनकी धर्मपत्नी सीता उनके साथ चलने का आग्रह करती हैं, तो वे उन्हें समझाते हुए कहते हैं—

जौं हठ करहु प्रेम बस बामा।
तौं तुम्ह दुखु पाउब परिनामा॥
काननु कठिन भयंकरु भारी।
घोर घामु हिम बारि बयारी॥

अर्थात—हे वामा! यदि प्रेमवश हठ करोगी, तो तुम परिणाम में दु:ख पाओगी। वन बड़ा कठिन (क्लेशदायक) और भयानक है। वहाँ के धूप, जाड़ा, वर्षा और हवा सभी बड़े भयानक हैं।

भूमि सयन बलकल बसन असनु कंद फल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल॥

जमीन पर सोना, पेड़ों की छाल के वस्त्र पहनना और कंद, मूल, फल का भोजन करना होगा और वे भी क्या सदा सब दिन मिलेंगे? सब कुछ अपने-अपने समय के अनुकूल ही मिल सकेगा।

राजमहलों में रहने वाले श्रीराम को यह पता था कि 14 वर्ष का वनवास अत्यंत कठिन होगा, लेकिन उन्होंने पिता की आज्ञा को सर्वोपरि मानते हुए कहा—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

अर्थात—हे माता! सुनो, वही पुत्र बड़भागी है, जो पिता-माता के वचनों का अनुरागी (पालन करने वाला) है। (आज्ञापालन के द्वारा) माता-पिता को संतुष्ट करने वाला पुत्र, हे जननी! सारे संसार में दुर्लभ है।

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

वन में विशेष रूप से मुनियों का मिलाप होगा, जिसमें मेरा सभी प्रकार से कल्याण है। उसमें भी, फिर पिताजी की आज्ञा और हे जननी! तुम्हारी सम्मति है। श्रीराम के वन जाने के पश्चात उनके छोटे भाई भरत को राज्य मिलेगा, इस बात से भी हर्षित होकर वे बोले—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

वनवास में रहकर श्रीराम, उनकी भार्या सीता व अनुज लक्ष्मण ने तपस्वियों का जीवन बिताया, वन के कष्ट सहे और वन में निवास करने वाले असुरों-राक्षसों का संहार किया।

सत्य तो यही ही है कि श्रीराम के वनवास का उद्देश्य धरती को निशाचरों से हीन करना था। इसीलिए उन्होंने प्रण किया था—

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

इसी क्रम में शूर्पणखा प्रसंग, खर-दूषण वध हुआ और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप रावण द्वारा सीताहरण का प्रसंग हुआ। इस घटनाक्रम के बाद राम यदि चाहते तो अयोध्या से सेना बुला सकते थे, लेकिन उन्होंने स्थानीय वन के ऋषि-मुनियों, मूक पशु-पक्षियों व वन में निवास करने वाले वानरों से सीधा संवाद कायम किया और उनकी सहायता, अपनी सूझ-बूझ और अपने शस्त्र—कौशल से बालि का वध करके वानरराज सुग्रीव से मैत्री की और फिर उनके साथ मिलकर सीता की खोज की।

सीता का पता चलते ही समुद्र पार स्थित लंका तक पहुँचने के लिए उन्होंने सामूहिक पुरुषार्थ द्वारा समुद्र पर रामसेतु का निर्माण किया और समुद्र पार करके लंका जाकर असुरों के विरुद्ध युद्ध का शंखनाद कर दिया। देखते-देखते रावण की अजेय, पराक्रमी-

जैसे मछली को पानी प्रिय लगता है, लोभी को धन और माता को अपना बालक प्रिय लगता है; वैसे ही भक्त को ईश्वर प्रिय लगता है।

असुर सेना जिससे देवता भी भयभीत होते थे, उसका अंत होता गया व फिर अंत में राम-रावण युद्ध हुआ, जिसमें अधर्मी रावण का अंत हुआ।

रावण का वध करने के उपरांत भगवान श्रीराम ने लंका का राजपाट उनके कनिष्ठ भ्राता विभीषण को सौंपकर आर्य संस्कृति का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया। इस तरह श्रीराम ने लंका में भी अधर्म के स्थान पर धर्म, आर्य संस्कृति की स्थापना कर दी और 14 वर्षों के उपरांत अयोध्या में भी संस्कृतिनिष्ठ साम्राज्य की स्थापना की। त्रेतायुग के राजा राम आज भी लोगों के दिलों में अपना रामराज्य बसाए हुए हैं, लोग उन्हें पूजते हैं और उनके ही जैसे आदर्श रामराज्य की कल्पना करते हैं, लेकिन यह मूर्तरूप में तभी संभव है, जब राम का आदर्शपूर्ण जीवन सभी का आदर्श बने और सभी उनके श्रेष्ठ गुणों को आत्मसात् करने का प्रयास करें। इस विजयादशमी पर्व पर इसी संकल्प को लेने की आवश्यकता है। ❑

जीवन का आधार है माँ

ईश्वर द्वारा प्रदत्त एक शिशु के लिए सबसे अनमोल तोहफा उसके माता-पिता ही तो हैं। इन दोनों की उसके लिए बहुत अहमियत है, लेकिन इन दोनों में भी माँ की भूमिका शिशु के लिए कुछ ज्यादा विशिष्ट होती है। माँ से बच्चे का एक विशेष संबंध होता है; क्योंकि माँ केवल बच्चे का पालन-पोषण ही नहीं करती, अपितु उसके व्यक्तित्व को एक नया आयाम भी देती है। माँ उसके जीवन को अपनी स्नेहमयी भावनाओं से सींचती है। माँ का आँचल बच्चे के लिए सबसे बड़ा सुरक्षा कवच होता है और माँ का आशीर्वाद उसके लिए सबसे बड़ा वरदान होता है। माँ की दुआएँ जब बच्चे के साथ होती हैं तो उसे सफलता के शिखर तक पहुँचाती हैं और माँ की सीख बच्चे के लिए वो मंत्र होते हैं, जो उसका जीवन सुरक्षित बनाते हैं।

'माँ' शब्द में एक पूरी दुनिया का सृजन छिपा हुआ है। सृष्टि का सृजन करने वाली परमेश्वरी आदिशक्ति हैं, उन्हीं से सब जन्मा है और उन्हीं का अंश सभी जीवों में विद्यमान मातृशक्ति में भी है। माँ केवल इनसानी दुनिया में ही नहीं है, बल्कि माँ की भूमिका तो सृष्टि के सभी जीवों के जीवन में है। जब कोई बच्चा जन्म लेता है तो वह अपनी माँ को ही सबसे पहले पुकारता है; क्योंकि माँ से उसका एक गहन रिश्ता होता है। माँ के प्यार के लिए वह हर पल लालायित रहता है, माँ के दूध से ही उसका पोषण होता है। एक तरह से अपने अस्तित्व के लिए वह पूरी तरह से अपनी माँ पर ही निर्भर रहता है और बदले में माँ भी अपने बच्चे पर अपना पूरा स्नेह लुटाती है व उसका भली प्रकार पालन-पोषण करती है।

मनुष्य के पास तो सोचने की शक्ति, कार्य करने की समझ और कई तरह की सुविधाएँ हैं, जिनके माध्यम से इनसानी माता-पिता अपने बच्चों का पालन-पोषण कर लेते हैं, लेकिन अन्य जीवों के पास इतनी सुविधाएँ न होते हुए भी वे अपने बच्चों का पालन-पोषण अत्यंत कुशलता से करते हैं। पशु अपने बच्चों के प्रति जैसा स्नेह लुटाते हैं और पक्षी अपने बच्चों के लिए जिस तरह से आवास व आहार की व्यवस्था करते हैं, उसे भी तो अद्‌भुत एवं विलक्षण ही कहा जा सकता है।

सृष्टि में भाँति-भाँति के जीव हैं, लेकिन सभी जीवों के पास यह समझ है कि उन्हें किस तरह से अपने बच्चों का लालन-पालन करना है। यह बात उन्हें कोई नहीं सिखाता और न ही उन्हें इस बात का कोई प्रशिक्षण देता है। स्वयं प्रकृति माँ ही उन्हें यह समझ देकर भेजती हैं और इस तरह सृष्टि में जीवन-व्यवस्था का तथा मातृत्व की भावना का संचालन होता रहता है। सभी जीवों में बच्चे के जन्म होने पर एक परिवार बसता है, लेकिन यह परिवार लंबे समय तक स्थिर नहीं रहता। जैसे ही बच्चे बड़े होते हैं, यह परिवार बिखर जाता है और फिर कोई दूसरा परिवार बसता है। एकमात्र मनुष्य ही है, जो अपना परिवार बसाता है तो जीवन भर उसे निभाने का प्रयत्न करता है।

मनुष्यों में जो परिवार होता है, उसको बाँधने का आधार भावनाएँ होती हैं और इन्हीं से परिवार समृद्ध होता है। परिवार से समाज का निर्माण होता है और समाज से फिर राष्ट्र का निर्माण होता है। इस परिवार की मुख्य धुरी होती है—माँ, जो परिवार को बाँधे रखती है, सँभाले रखती है। माँ के प्रति हर किसी की भावनाएँ सुकोमल हो जाती हैं। माँ की याद हर किसी को सताती है और याद आता है—माँ के द्वारा खिलाया गया भोजन, यथासंभव सुविधाओं की व्यवस्था, उनके द्वारा दिए गए उपहार और भी ऐसी बहुत-सी बातें। इन्हीं भावों को व्यक्त करती एक कवि की भावनाएँ कुछ इस प्रकार हैं—

माँ संवेदना है, भावना है, एहसास है,
माँ जीवन के फूलों में खुशबू का वास है,
माँ रोते हुए बच्चे का खुशनुमा पालना है,
माँ मरुस्थल में नदी या मीठा-सा झरना है,
माँ लोरी है, गीत है, प्यारी-सी थाप है,
माँ पूजा की थाली है, मंत्रों का जाप है,
माँ आँखों का सिसकता हुआ किनारा है,
माँ हृदय का प्रेम है, ममता की धारा है,

माँ झुलसते दिलों में कोयल की बोली है,
माँ परमात्मा की स्वयं एक गवाही है,
माँ त्याग है, तपस्या है, सेवा है,
माँ ही तो सब कुछ है।

जिसके जीवन में माँ का प्यार नहीं होता, उसका जीवन उस प्यार से रिक्त होता है, जिसकी चाहत हर बच्चे को होती है। बच्चों की आँखों से जब आँसू बहते हैं तो माँ का दिल भी उतना ही रोता है। बच्चों की खुशी में माँ की खुशी छिपी होती है। बच्चों की अनकही बातें माँ समझ जाती है। छोटे बच्चे केवल हँसकर या रोकर अपनी भावनाएँ व इच्छाएँ व्यक्त करते हैं।

जैसे—बच्चा भूखा-प्यासा होता है तो रोता है, उसे दरद होता है तो रोता है, उसे बहुत गरमी लगती है या बहुत ठंढ लगती है तो वह रोता है, सोने के लिए रोता है तो कभी सोकर उठने के बाद जगने पर रोता है, लेकिन यह सब होते हुए भी, जो उसे सदा सुखी व संतुष्ट रख सकती है—वो माँ ही है। उसकी मूक भाषा को समझने वाली एक माँ ही होती है, जो उसकी हर जरूरत को पूरा करती है, उसका ख्याल रखती है और उसकी सुरक्षा का ध्यान रखती है।

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, माँ की व परिवार के लोगों की जिम्मेदारियाँ भी बढ़ती जाती हैं; क्योंकि बड़े होने के साथ-साथ धीरे-धीरे बच्चे को हर तरह के प्रशिक्षण की जरूरत होती है, जैसे उसको अन्न ग्रहण करने का प्रशिक्षण देना होता है, फिर उसे धीरे-धीरे बैठना, उठना, चलना, खेलना, बोलना आदि भी सिखाने होते हैं और इन सारे कार्यों में माँ की भूमिका ही अहम होती है।

माँ की गोद बच्चे के लिए सबसे सुकूनदायक होती है। माँ की लोरी व बोली उसके लिए किसी मधुर संगीत से बढ़कर होती है और माँ का प्यार भरा स्पर्श उसके लिए सबसे प्रभावी औषधि होती है। इसलिए माँ के प्रति बच्चे की भावनाएँ चाहे कुछ भी हों, लेकिन माँ की भावनाएँ हमेशा अपने बच्चे के हित से जुड़ी होती हैं। माँ का ममत्व ही हमारे जीवन का आधार है। अतः हमें सदा उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए उसके लिए अच्छे-से-अच्छा करने की सोचना चाहिए। ❑

वैशाली के दंडनायक ने भगवान बुद्ध से उसके घर पर आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। भगवान बुद्ध बोले—"भंते! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते।" दंडनायक को लगा कि वह इतना समृद्ध है, फिर भगवान बुद्ध ने ऐसा क्यों बोला होगा? उसे लगा कि वह दान नहीं देता, इसलिए उन्होंने उसे ऐसा कहा। उसने अपना सारा धन याचकों को दान में दे दिया। यह समाचार सुन बुद्ध मुस्कराए और बोले—"संपदा को लुटा फेंकने का नाम दान नहीं है। पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना संचित साधनों को भावुकतावश फेंकने लगना, अर्जित पूँजी को अँधेरे कुएँ में डालना है।" अगले दिन दंडनायक ने पुनः बुद्ध से उसके यहाँ भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। बुद्ध बोले—"भंते! तुम प्रथम कोटि का दान करने का साहस जुटाओ। दंडनायक ने बहुत विचार किया कि प्रथम कोटि का दान क्या होगा? विचारने पर उसे महसूस हुआ कि इससे पूर्व का दान अहंकार के पोषण और ख्याति की प्राप्ति के लिए था। उसने सोचा कि वस्तुतः ऐसा क्या है, जिस पर मात्र मेरा अधिकार है। विचार करने पर उसे यह भान हुआ कि स्वामित्व का भाव ही समस्त समस्याओं की जड़ है। इसको त्यागने पर जो भी दान दिया जाएगा, वह प्रथम कोटि का होगा। अपने अहंकार को नष्ट कर वह पुनः बुद्ध के सम्मुख उपस्थित हुआ और उनसे वही प्रार्थना की। उसके अंदर हुए परिवर्तन को महसूस कर भगवान बुद्ध उसके घर भोजन लेने उपस्थित हुए।

विवेक ज्ञान से कैवल्य का पथ

अंतर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग चित्त में विवेक ज्ञान का उदय करते हैं। विवेक ज्ञान का उदय होने से चित्त की दिशा व दशा परिवर्तित होती है। इसके पहले जहाँ चित्त विषयों की ओर अभिमुख रहा करता था, वहीं अब उसमें आत्मभावना पनपने लगती है। इसके साथ ही वासना, संस्कार व कर्मभार से बोझिल चित्त निर्भार होने लगता है। इस प्रक्रिया में अँधियारा अपने आप ही हटता, छँटता व क्षीण होता जाता है। साथ ही प्रवृत्तियाँ व परिस्थितियाँ भी बदलती जाती हैं। न भ्रांति रहती है और न भ्रम पनपते हैं। सदा ही संशय रहित, सुस्पष्ट ज्ञान प्रस्फुटित होता रहता है। जिज्ञासा समाधि में अपना समाधान पा जाती है। विवेक ज्ञान बढ़ने के साथ प्रकाश स्वतः ही बढ़ता जाता है। इस प्रकाश में स्वयं ही विभूतियाँ, विलक्षण शक्तियाँ व अलौकिक सिद्धियाँ प्रकट होती रहती हैं और यह सब होता है बिना किसी प्रयास के, स्वभावतः अनायास क्योंकि विवेक ज्ञान के विकसित होने से चित्त की प्रकृति ही ऐसी हो जाती है कि उसमें कोई विकृति पनप ही नहीं सकती।

इस योगकथा की पिछली कड़ी में इसी सत्य को उजागर किया गया था। इसमें कहा गया था कि समाधिजनित विवेक ज्ञान द्वारा चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले योगी की आत्मभाव विषयक भावना भी पूरी तरह से छूट जाती है। आध्यात्मिक पथ का प्रारंभ आत्मभावना से, आत्मजिज्ञासा से होता है। इसके प्रगाढ़ होने से वासना क्षीण होती है और तब धीरे-धीरे तादात्म्य विसर्जित होने लगता है। पहले घटनाक्रमों से तादात्म्य मिटता है। बाद में संबंधों से सम्मोहन टूटता है। इसके पश्चात लगता है कि जिस तरह परिस्थिति व परिवेश स्वयं से भिन्न हैं, ठीक उसी तरह अपना शरीर भी अपने से भिन्न है। शरीर ही क्यों; प्राण व विचार भी भिन्न अनुभव होते हैं। संस्कार व कर्म की भिन्नता के साथ चित्त व आत्मा का भेद प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस सूत्र कथन के सत्य को सूत्रकार महर्षि अगले सूत्र में और भी अधिक स्पष्ट करते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ 4/26॥

शब्दार्थ—तदा = उस समय (योगी का); **चित्तम्** = चित्त; **विवेकनिम्नम्** = विवेक में झुका हुआ; **कैवल्यप्राग्भारम्** = कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

भावार्थ—उस समय विवेक में झुका हुआ, योगी का चित्त कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

चित्त की दो ही संभव अवस्थाएँ हैं। इनमें से पहली है—वासना की ओर झुका हुआ चित्त और दूसरी है—विवेक की ओर झुका हुआ चित्त। पहली अवस्था का अनुभव तो प्रायः सभी करते हैं; जबकि दूसरी अवस्था का अनुभव केवल वही कर पाते हैं, जो अपने चित्त को परिष्कृत करने के प्रयासों में लीन हैं। इन दोनों अवस्थाओं को स्पष्ट करने वाली योगवासिष्ठ की एक कथा है। योगवासिष्ठ में इसे वीतहव्य के वृत्तांत का नाम दिया गया है। इस कथा के मनन से सूत्र का सत्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

इस कथा को सुनाते हुए महर्षि वसिष्ठ ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम से कहा—"विंध्याचल की कंदरा में वीतहव्य नाम का एक तपस्वी रहता था। उसके मन में सांसारिक विषय भोगों की बड़ी तीव्र कामना थी। इसलिए उसने तरह-तरह के काम्य कर्म किए, सकाम अनुष्ठान किए और उनके फल भोगे। फिर भी उसके मन को किसी तरह की तृप्ति नहीं हुई। हमेशा ही कोई-न-कोई भोग-वासना उसके मन में बनी रहती। अपनी इस स्थिति पर विचार करके उसे भारी विषाद हुआ। तब उसने निश्चय किया कि पूर्ण तृप्ति और शांति प्राप्त करने का उपाय केवल विवेक ज्ञान से उपजी समाधि है। यह सोचकर उसने अपने लिए कुटी बनाई और उसके भीतर पद्मासन लगाकर बैठ गया और इस तरह विचार करने लगा—'आखिर मैं विषयों के पीछे क्यों दौड़ता हूँ? क्योंकि मैं सोचता हूँ कि इन्हें भोगने से मुझे आनंद मिलेगा। परंतु अब तक इतने दीर्घकाल तक अनेकों भोग भोगने के बाद भी मुझे आनंद न मिल सका। इसलिए यह विचार ही गलत है।' कितने अचरज की बात है कि जो विषय-

भोग थोड़े समय पहले हमें परम आनंद का उद्गम दिखाई पड़ता था और जिसे प्राप्त करना हमें अपने जीवन का ध्येय व सौभाग्य लगता था, उसे पाने और भोग लेने के बाद वही आनंद रहित व निरर्थक लगने लगता है। इससे स्पष्ट है कि आनंद, भोग में नहीं है। यह केवल भ्रम भरी भटकन है। इसी भ्रम में पड़कर सभी जीवात्माएँ संसार-समुद्र में गोते खा रही हैं। पहले सोचते हैं कि आज इसे पाना है, फिर जब वह मिल जाता है तो सोचने लगते हैं कि कल-परसों, जैसे-तैसे इससे पीछा छुड़ाना है।

''निरंतर—अनवरत ऐसा विचार करते हुए वीतहव्य के मन में विषय-भोग से वैराग्य होने के साथ ही विवेक ज्ञान का उदय भी होने लगा। तब उसने अनुभव किया कि जो इंद्रियाँ उसे भटकाती रहीं, जिन्हें वह अपना स्वरूप समझता रहा, वे सभी इंद्रियाँ मन व प्राण के साथ संबंध हुए बिना निष्क्रिय और जड़ हैं। मन ही है, जो इंद्रियों के साथ संबंध रखकर भोग की अनुभूति पाता है। इसी तरह इंद्रियों की सारी क्रियाएँ प्राण के आधार पर हैं। इस तरह विचार करते हुए वीतहव्य इंद्रिय व उनके विषयों के वश में न रहा। ऐसा होने के बाद उसने विचार किया कि ये मन व प्राण भी आत्मा नहीं हो सकते; क्योंकि मन तो चंचल है और प्राण जड़ है, लेकिन आत्मभाव तो सदा स्थिर व स्वयं प्रकाश है। आत्मा तो सब विषयों का साक्षी, सदा एकरूप और निर्विकार है। आत्मा में तो विकास संभव नहीं है। जबकि मन विकारवान व चंचल है। विकारों का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कोई निर्विकार द्रष्टा उसका निरीक्षण करता हो।

''मन न तो अपने आप का अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषय का। आत्मा को ही प्राण का अनुभव होता है और प्राण की शक्ति आत्मा के आधीन है। इसी प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को यह अनुभव होने लगा कि मन व प्राण से परे इनका द्रष्टा और संचालक आत्मतत्त्व है। इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी जो मन से कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है, आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि में भी विकार होते हैं और आत्मा को बुद्धि का ज्ञान होता है। मन व बुद्धि, दोनों ही गहरी निद्रा में शांत हो जाते हैं, किंतु आत्मा का अनुभव वहाँ पर भी होता है। इसलिए आत्मा बुद्धि से अधिक स्थायी, बुद्धि की द्रष्टा और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही शांति का अनुभव हो सकता है।

''इस प्रकार विचार करते-करते और आत्मतत्त्व का ध्यान करते-करते वीतहव्य को समाधि लग गई। उसकी बुद्धि, मन, प्राण, इंद्रिय और शरीर सभी स्थिर हो गए और इस स्थिति में वह बहुत काल तक शिलावत् बैठा रहा। इस निर्विकल्प समाधि के पश्चात जब उसकी चेतना बहिर्मुखी हुई तो उस अवस्था में वह आत्मभाव में रहने लगा। अब उसका जीवन विवेक ज्ञान में प्रतिष्ठित था। न कुछ उसके लिए उपादेय था और न हेय था। न किसी वस्तु के प्रति उसमें राग था और न द्वेष। इंद्रियों द्वारा इंद्रियोचित और शरीर तथा मन द्वारा शरीर व मन के करने योग्य कर्म करके वह शांत रहता था। उसे हर समय परमानंद का अनुभव होता रहता था। इस प्रकार विवेक ज्ञान से संपन्न जीवनमुक्त अवस्था में बहुत समय रहने के पश्चात वीतहव्य की चेतना में विदेह मुक्ति की कैवल्य अवस्था में प्रवेश करने का विचार हुआ। यह सोचकर उसने इस विषय में विचार करना आरंभ किया। संसार और जीवन के एक-एक बंधन को उसने क्रमिक रूप से विदा किया और स्वयं को सर्वथा मुक्त करके परम शांत, सत्ता सामान्य, तुरीयातीत, कैवल्य में स्थित होकर सदा के लिए शांत हो गया।'' विवेक ज्ञान से कैवल्य तक का पथ यही है। ❑

जाग्रत आत्माएँ अपने आंतरिक देवासुर संग्राम को देखें और उसके समाधान के लिए सद्विवेक से, सत्साहस से भगवान का आवाहन करें। यदि ऐसा हो सके तो इसी देव परिवार की असंख्य प्रतिभाएँ युगदेवता के चरणों में अपनी छोटी या बड़ी भावभरी आत्माहुति प्रस्तुत कर सकती हैं। पतन और पीड़ा के गर्त में पड़ी हुई मानवता ने इसी की आर्त्त पुकार की है। महाकाल ने इसी की माँग की है।

—परमपूज्य गुरुदेव

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि हमारे वृक्ष

हमारी संस्कृति में वृक्षों की विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न रूपों में पूजा की जाती है; क्योंकि वृक्ष जीवंत देवस्वरूप हैं व इनमें देवताओं का वास माना जाता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में ऐसे पर्व, व्रत व त्योहार विशिष्ट तिथियों में आते हैं, जिनमें किसी विशेष पौधे या वृक्ष की पूजा की जाती है। उदाहरण के तौर पर, सोमवती अमावस्या यानी सोमवार के दिन अमावस्या तिथि पड़ने पर लोग पीपल वृक्ष की पूजा करते हैं, उसकी 108 बार जल व अन्य सामग्री अर्पण करते हुए परिक्रमा करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों की चर्चा के क्रम में स्वयं कहते हैं कि **अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां** यानी मैं सब वृक्षों में पीपल वृक्ष हूँ। पीपल वृक्ष में अनेक देवी-देवताओं का वास भी माना गया है। इसलिए यह देववृक्षों की श्रेणी में आता है।

इसी तरह वटवृक्ष यानी बरगद भी पूजनीय है। वटवृक्ष के नीचे ही भगवान बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी, इसलिए इसे बोधिवृक्ष भी कहते हैं। वटवृक्ष के नीचे ही सावित्री ने सत्यवान को यमराज के पाश से मुक्त करवाया था। इसलिए वटसावित्री व्रत में इसी वटवृक्ष की पूजा, सुहागिन महिलाएँ करती हैं और अपने पति के दीर्घायु, स्वस्थ जीवन की मनोकामनाएँ करती हैं। वटवृक्ष के नीचे ही प्रायः भगवान शिव समाधि लगाते हैं, इसलिए इस वृक्ष को भगवान शिव का प्रतीक-पर्याय भी समझा जाता है। वटवृक्ष अपनी विशालता के कारण जगत भर में प्रसिद्ध है। पराशर मुनि ने '**वट मूले तपोवासा**' कह कर वटवृक्ष की पवित्रता के विषय में बताया है। उनके अनुसार—समूची सृष्टि में एकमात्र वटवृक्ष ही है, जिसमें त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का सम्मिलित वास है।

वटवृक्ष के अलावा भारतीय संस्कृति में तुलसी, नीम, बेल, आँवला, अशोक, आम, पलाश, शमी, केला आदि को भी बड़ी मान्यता प्राप्त है। ज्योतिष शास्त्र में 9 ग्रहों एवं 27 नक्षत्रों का उल्लेख है। प्रत्येक व्यक्ति पर इन नवग्रहों एव नक्षत्रों का प्रभाव उसकी जन्मतिथि के अनुसार पड़ता है। हमारे शरीर में जो सूक्ष्मचक्र, ग्रंथियाँ व मुख्य ऊर्जाकेंद्र हैं, इनके माध्यम से इन ग्रहों व नक्षत्रों की ऊर्जा हमारे शरीर में प्रवेश करती है। जिस तरह इन नवग्रहों व नक्षत्रों के विशेष मंत्र, रत्न व रंग होते हैं, उसी तरह इन ग्रहों व नक्षत्रों से संबंधित वृक्ष भी धरती पर मौजूद हैं, जैसे—सूर्य—बेल, चंद्र—पलाश, मंगल—खैर या खदिर, बुध—अपामार्ग, गुरु—पीपल, शुक्र—गूलर, शनि—शमी व मदार; राहु—दूर्वा व चंदन, केतु—कुशा व अश्वगंधा से संबंधित वृक्ष हैं।

इसी तरह नक्षत्रों से संबंधित वृक्ष हैं—(1) अश्विनी—कुचला, (2) भरणी—आँवला, (3) कृतिका—गूलर, (4) रोहिणी—जामुन, (5) मृगशिरा—खदिर, (6) आर्द्रा—शीशम, (7) पुनर्वसु—बाँस, (8) पुष्य—पीपल, (9) अश्लेषा—नागकेशर, (10) मघा—बरगद, (11) पूर्वा फाल्गुनी—पलाश, (12) उत्तरा फाल्गुनी—पाठा, (13) हस्त—रीठा, (14) चित्रा—बिल्व पत्र, (15) स्वाति—अर्जुन, (16) विशाखा—कटाई, (17) अनुराधा—मौलश्री, (18) ज्येष्ठा—चीड़, (19) मूल—साल, (20) पूर्वाषाढ़ा—जलवेतस, (21) उत्तराषाढ़ा—कटहल, (22) श्रवण—मदार, (23) धनिष्ठा—शमी, (24) शतभिषा—कदंब, (25) पूर्वाभाद्रपद—आम, (26) उत्तराभाद्रपद—नीम तथा (27) रेवती—महुआ। ये सभी वनस्पतियाँ औषधीय गुणों से भरपूर हैं और इनमें से अधिकांश को हम सभी जानते हैं, परिचित हैं व इनके फल-फूलों व पत्तियों का उपयोग भी करते हैं।

सभी तरह के वृक्षों में पीपल ही एकमात्र ऐसा वृक्ष है, जिसमें कीड़े नहीं लगते। यही कारण है कि हिंदू धर्म में पीपल के पेड़ को काटना वर्जित माना गया है। इसी तरह अशोक वृक्ष के बारे में कहा जाता है कि 'जो शोक निवारे सो अशोक'। इस वृक्ष का महत्त्व इसलिए भी है; क्योंकि माता सीता ने अपने सबसे कष्टकर व दुःखद पलों में यानी रावण की स्वर्ण नगरी में अशोक वाटिका को ही अपना आश्रय स्थल बनाया था और अशोक वृक्ष

के नीचे ही रहकर उन्होंने अपना समय बिताया था। मान्यता है कि घर में अशोक वृक्ष लगाने से वास्तु दोष भी समाप्त हो जाते हैं।

इसी क्रम में नीम का वृक्ष भी बहुत उपयोगी है। इसकी पत्तियाँ कड़ुई जरूर होती हैं, लेकिन कई तरह की चिकित्साओं में बहुत उपयोगी होती हैं; क्योंकि इसकी पत्तियों में रोगाणुओं को नष्ट करने की अद्भुत क्षमता होती है। इस वृक्ष को शीतला माता व माँ दुर्गा का वृक्ष माना जाता है। इसे नीमारी देवी के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रायः देवी के मंदिरों में इसका रोपण करना शुभ माना जाता है व इसका विधिवत् पूजन भी होता है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में चेचक निकलने पर नीम के पेड़ का पूजन व इसकी पत्तियों का उपयोग चेचक के दाग हटाने में किया जाता है।

बिल्व वृक्ष से सभी परिचित हैं। बिल्वपत्र भगवान शिव को अत्यंत प्रिय हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिए उन्हें बिल्वपत्र चढ़ाए जाते हैं। बिल्वपत्र की महिमा का बखान करने वाला 'बिल्वाष्टकम्' स्तोत्र भी है, जिसमें इसके आध्यात्मिक गुणों का वर्णन है। बिल्व वृक्ष में लगने वाला बेल का फल भी पेट संबंधी रोगों के निवारण में बहुत उपयोगी है। प्रसिद्ध है कि माँ सती ने भगवान शंकर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वर्षों तक हरिद्वार स्थित बिल्वकेश्वर महादेव में बिल्वपत्रों के माध्यम से उनकी पूजा-अभ्यर्थना की थी।

आम का पेड़ सभी को अत्यंत प्रिय है। फलों का राजा आम को कहा गया है। मांगलिक कार्यों में, कलश स्थापन में, वंदनवार बनाने में आम्रपत्तियों का उपयोग होता है। आम की लकड़ी का प्रयोग भी हवन आदि में होता है। जब आम के वृक्षों में बौर आ जाते हैं, तो उनकी मनमोहक खुशबू से वातावरण महक उठता है और फिर कोयल भी कूकने से अपने आप को रोक नहीं पाती। आम के मीठे फल, कोयल का मधुर स्वर दोनों ही मिलकर वातावरण को खुशनुमा बना देते हैं। आम के फल बहुत उपयोगी होते हैं व विविध प्रकार से इनका प्रयोग भारतीय संस्कृति में किया जाता है।

इसी तरह केले के पत्तों व फल का भी बहुत महत्त्व है। इसके विशेष महत्त्व के कारण ही केले के पत्तों में पारंपरिक रूप से भोजन करने का विधान है। केले के पेड़ में भगवान विष्णु व देवगुरु बृहस्पति का वास माना जाता है, इसलिए प्रायः लोग गुरुवार के दिन केले के पेड़ का पूजन करते हैं। इसी तरह हरिप्रिया तुलसी के बिना पंचामृत पूर्ण नहीं होता। इसकी रोगनिवारक व पर्यावरण शुद्धि की क्षमता से हम सभी भली भाँति परिचित हैं। इसलिए भारतीय परिवेश में हर घर के आँगन में तुलसी का पौधा अनिवार्य रूप से मिलता है व सुबह-शाम इसका पूजन होता है।

आँवले का पेड़ भी अत्यंत पूजनीय माना गया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया—अक्षय तृतीया व कार्तिक शुक्ल पक्ष की नवमी—अक्षय नवमी के नाम से जानी जाती है और इस दिन आँवले के पेड़ की विशेष रूप से पूजा होती है और इसकी छाँह में भोजन पकाकर ग्रहण किया जाता है। इसी तरह फाल्गुन शुक्ल पक्ष की एकादशी को आमलकी एकादशी के नाम से जाना जाता है और यह वृक्ष भगवान विष्णु का अत्यंत प्रिय माना गया है। आँवले के औषधीय गुणों से हम सभी परिचित हैं। इसके अतिरिक्त इस वृक्ष के पूजन के अनेक आध्यात्मिक लाभ भी हैं।

इस तरह इन देववृक्षों से हमारी संस्कृति बड़ी गहराई से जुड़ी हुई है और इनके सान्निध्य व संपर्क में रहकर यह इतनी सुविकसित भी हुई है। प्राचीनकाल से ही रोगों के उपचार के लिए मनुष्य इन्हीं वृक्ष-वनस्पतियों पर निर्भर रहा है। आज भी विशेष तिथियों में इनके पूजन की प्रथा है, अतः हमें इन वृक्षों का सम्मान करना चाहिए व इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए इनके पोषण व संरक्षण का दायित्व उठाना चाहिए। ❑

स्वामी रामतीर्थ की विद्वत्ता और ओजस्वी वाणी से प्रभावित होकर अमेरिका के कुछ विश्वविद्यालयों ने मिलकर उन्हें एलएलडी नामक उपाधि देने का प्रस्ताव रखा। स्वामी रामतीर्थ उसे सधन्यवाद अस्वीकार करते हुए बोले—"आपने मेरे नाम में स्वामी और एम.ए. नामक दो कलंक पहले ही लगा दिए हैं। अब ये तीसरा कलंक कहाँ लगेगा?" अपनी बात समझाते हुए वे बोले—"भगवान के भक्त के लिए किसी और परिचय की आवश्यकता नहीं।"

कौन है प्रबुद्ध?

विश्व के बदलते परिदृश्य में अनेकों को लगता है कि सामाजिक से लेकर राजनीतिक विसंगतियों को दूर करने के लिए प्रबुद्ध वर्ग को सामने आने की आवश्यकता है। यदि प्रबुद्ध वर्ग जागे एवं भविष्य को देखकर निर्णय लेने का प्रयत्न करे तो संभव है कि भटकी हुई मानवता की दिशा मोड़ी जा सके। प्रश्न उठता है कि 'प्रबुद्ध' है कौन? वो कौन लोग हैं या वो कौन-सा समुदाय है, जिसे प्रबुद्ध वर्ग की श्रेणी में रखा जा सके। क्या मात्र डिग्री लेकर बैठ जाने वाले लोग प्रबुद्ध हैं, या महत्त्वपूर्ण पदों को प्राप्त कर चुके लोग उस श्रेणी में आते हैं अथवा प्रतिष्ठा व वैभव से संपन्न व्यक्तियों को यह संज्ञा दी जा सकती है?

प्रबुद्ध शब्द को अँगरेजी में 'इन्टिलेक्च्यूअल' कहकर पुकारते हैं। इन्टिलेक्च्यूअल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1892 में ड्रेफ्यूसार्ड द्वारा तैयार किए गए 'प्रबुद्धों के संविधान' या 'मेनिफेस्टो ऑफ इन्टिलेक्च्यूअल' में हुआ था। उस समय फ्रांस के राष्ट्रपति द्वारा एक ईमानदार आर्मी अफसर को झूठे आरोप लगाकर हटाने का प्रयास किया गया था, जिसके विरोध में वहाँ के गंभीर चिंतक-एक आवाज के साथ खड़े हो गए थे। आज भले ही हम इन्हें पलटकर गंभीर चिंतकों व राष्ट्रहित, मानवहित के रक्षकों के रूप में याद करते हों, परंतु उस समय के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों, वैज्ञानिकों इत्यादि ने, जो राजदरबार से धन व पद पाते थे, उनकी आवाज को दबाने एवं कुचलने का बड़ा ही क्रूर प्रयत्न किया था। यहाँ तक कि उस समय के एक प्रसिद्ध चिंतक, फर्डिनांड ब्रूनेटिएर ने तो 'प्रबुद्ध' शब्द को समाज के माथे पर कलंक तक कह डाला था। स्पष्ट है कि प्रबुद्धता की पहली परिभाषा, राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं एवं व्यक्तिगत हितों के मध्य कुचली हुई नजर आती थी।

कुछ ऐसा ही दृश्य विश्वयुद्धों के समय भी देखने को मिला। उस समय के कुछ जाने-माने विद्वानों ने 'मेनिफेस्टो ऑफ नाइन्टी थ्री' के नाम से रंगभेद, नस्लभेद के समर्थन में एक दस्तावेज ही पारित कर दिया था। ऐसा नहीं है कि हर विचारक इतनी ही कमजोर मनःस्थिति का था। यूजीन जोला, बर्ट्रेंड रसल, यूजीन डेब्स, रोसा लक्समबर्ग और कार्ल लिबनेक्ट ने ऐसी अमानवीय नीतियों को वैचारिक समर्थन देने से मना किया और बदले में उन्हें सजा का सामना भी करना पड़ा। इन सभी महान विद्वानों को जेल में डाल दिया गया। यूजीन डेव्स को तो अमेरिका के राष्ट्रपति ने युद्ध समाप्त होने के बाद भी छोड़ने से मना कर दिया था।

विगत सदी के इन उदाहरणों को साझा करने के पीछे का उद्देश्य मात्र इतना है कि वर्षों से प्रबुद्ध कहलाने या न कहलाने की परंपरा, राजहितों पर तय होती आई है। यदि व्यक्ति के व्यक्त किए गए विचार सत्तापक्ष के उद्देश्यों से भिन्न लगते देखे गए तो उनको कुचलने-दबाने में कोई छूट नहीं बरती गई। इसके विपरीत जो सत्तापक्ष के हित में दिखे, उनको अनेक राष्ट्रीय सम्मानों से नवाजने में भी कोई कमी नहीं रखी गई। पाश्चात्य जगत की दृष्टि से देखें तो लगभग यही स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक बनी रही।

जब विश्वयुद्धों के बाद वैश्विक परिदृश्य बदलने लगा, संयुक्त राष्ट्र संघ, आई.एम.एफ, जी.टी.ओ., यूरोपियन यूनियन जैसे वैश्विक संगठनों का प्रभुत्व बढ़ने लगा तो उसके साथ-साथ, प्रबुद्धों की परिभाषाएँ भी बदलने लगीं। इनमें से कुछ को 'वेल्यू-ऑरिएंटेड इंटलेक्चुअल' या मूल्योन्वेषक प्रबुद्ध कहकर पुकारा जाने लगा तो दूसरे वो थे, जो अभी भी सत्तापक्ष के समर्थन में थे। यदि गंभीरता से देखा जाए तो दो तरह के प्रबुद्ध वर्गों के मध्य का मूलभूत अंतर इस आधार पर है कि प्रबुद्धों के दायित्व क्या हैं व वे किसके लिए उत्तरदायी हैं? सरकार के लिए या समाज के लिए। उनके दायित्वों का निर्धारण नैतिक आधार पर है या व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के आधार पर। याद पड़ता है कि जब एक प्रसिद्ध शायर को एक तानाशाह ने उसकी बुराई करने के लिए जेल में डाल दिया तो उसने बदले में तानाशाह के लिए पंक्तियाँ लिखकर भेंट में भेजी थीं, उसने लिखा था—

तुम से पहले जो शख्स यहाँ पर तख्तनशीं था।
उसको भी अपने खुदा होने पर
इतना ही यकीं था॥

यह विमर्श आज की परिस्थितियों में इसलिए प्रासंगिक हो जाता है कि जब समाज प्रबुद्धों के जागरण की आशा करता है तो उसमें दायित्वों का निर्धारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सरकारों के हित, समाज के भी हित हों यह जरूरी नहीं है। सत्ता सत्य के साथ खड़ी हो यह जरूरी नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि सभी सरकारें और सारे शासक अमानवीय ही हों। अनेक व्यक्ति इस श्रेणी में ऐसे भी हुए हैं, जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध रही है, परंतु समाज के हित का निर्धारण मात्र इसी आधार पर करना मानवता के हित में बाधा बन सकता है। उदाहरण के तौर पर, यह जानकर अनेकों को आश्चर्य होगा कि जेल से सन् 1990 में ही रिहा कर दिए जाने के बाद भी अमेरिका ने नेल्सन मंडेला को सन् 2008 तक खतरनाक अपराधी घोषित कर रखा था। स्पष्ट है कि सारी दुनिया और लाखों प्रबुद्धों की आवाज एक तरफ एवं अमेरिका की अपनी वैचारिक नीतियाँ दूसरी तरफ थीं। इस आधार पर प्रबुद्धता का निर्णय मानवता के अकल्याण के सिवा और कर क्या सकता है?

यद्यपि वैश्विक नीतियाँ अब उतनी एकतरफा नहीं रह गई हैं, जितनी आज से कुछ दशक पहले थीं। अमेरिका ने 'वार ऑन टेरर' का नाम लेकर कुछ देशों को मध्ययुग की अवस्था में लाकर खड़ा कर दिया। जिस लड़की की गवाही के आधार पर इराक पर चढ़ाई करने को सही माना गया, वो अमेरिकी राजदूत की ही पुत्री थी। जिन 'वेपन्स ऑफ मास डिस्ट्रक्शन्स' को ढूँढ़ने के नाम पर लाखों लोगों की हत्याएँ हुईं, उनमें से एक भी आयुध नहीं मिला, परंतु लाखों निरपराध लोग मारे गए। इतना सब घटा, परंतु प्रबुद्धों की आवाज क्यों नहीं निकली? वे क्यों इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सके कि अखबारों में छपने वाली सुर्खियाँ सत्य नहीं हैं। उनके पीछे समीकरण दूसरे भी हो सकते हैं।

आज की परिस्थितियों में प्रबुद्धों को अपनी जिम्मेदारियाँ अनुभव कर आगे आने की आवश्यकता है। यदि ये जिम्मेदारियाँ शीघ्र न उठाई गईं तो फिर भविष्य में भयावह समस्याओं को जन्म देने में कोई रोक न सकेगा। लोग शैक्षणिक उपलब्धियाँ लेकर न भी खड़े हों, परंतु यदि उनके सरोकार सामाजिक हैं तो ये प्रबुद्ध ही कहलाएँगे और वर्तमान परिस्थितियाँ, ऐसे ही प्रबुद्धों के जागरण की माँग करती हैं। ❑

अब्राहम लिंकन के एक मित्र ने समाचारपत्र की एक कटिंग उनके सामने रखते हुए कहा—"देखिए, लोग किस तरह से आपकी आलोचना करने में लगे हुए हैं और आप चुप्पी ही साधे बैठे हैं। इनका प्रतिवाद आप किसी समाचारपत्र को क्यों नहीं भिजवाते?" लिंकन ने उत्तर दिया—"मित्र! यदि मैं समाचारपत्र की प्रत्येक आलोचना को देखूँ और उसका उत्तर देने का प्रयत्न करूँ तो राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण कार्य करने का समय ही शेष न रहेगा। मैं मात्र अच्छे ढंग से राष्ट्र की सेवा करने का प्रयत्न करता हूँ। यदि मेरे कार्यों के परिणाम देश की जनता के हित में निकलते हैं तो आलोचकों की बातें स्वतः ही निरर्थक सिद्ध हो जाएँगी और यदि इनके परिणाम राष्ट्रहित में नहीं निकलते हैं तो देवता भी आकर मेरा पक्ष क्यों न लें, कोई उनकी बात सुनने को तैयार नहीं होगा। सत्य यही है कि मनुष्य को मात्र अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और आलोचनाओं पर केवल इतना ध्यान देना चाहिए कि यदि अपने व्यक्तित्व में कोई कमी हो तो उसे सुधार लिया जाए।"

शक्ति संरक्षण वर्ष

न टूटने दें परिवारों को

परिवार वह कहलाता है—जहाँ आपसी प्रेम हो, अपनत्व हो, एकदूसरे के प्रति सम्मान हो तथा एकदूसरे के विकास का भाव हो। परिवार के सदस्य आपस में एकदूसरे से जुड़े होते हैं, उनके बीच रिश्तों की कोई-न-कोई डोर होती है, जो उन्हें आपस में बाँधे रखती है। इन रिश्तों के केंद्र में होती हैं—भावनाएँ, जिनके कारण पारिवारिक रिश्ते मजबूत होते हैं। यदि आपसी भावनाओं में खटास होती है तो रिश्तों में दरार आने लगती है और फिर परिवार बिखरने लगता है।

परिवार केवल रक्त संबंधों का ही नहीं होता, वरन रक्त संबंधों से परे भी परिवार विकसित हो जाता है। यदि साथ रहने वाले सदस्यों में आपस में विश्वास हो, एकदूसरे के प्रति अच्छी भावनाएँ हों, प्रेम हो, एकदूसरे के प्रति सहयोग व विकास का भाव हो तो वहाँ भी परिवार बस जाते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार वहाँ भी बसता है, जहाँ अनाथालय होते हैं, परिवार वहाँ भी बन जाता है, जहाँ वृद्धाश्रम होते हैं और परिवार वहाँ भी पनप जाता है, जहाँ बच्चे हॉस्टल में पढ़ने के लिए जाते हैं। इसके विपरीत परिवार वहाँ बिखर-सा जाता है, जहाँ लोगों में आपसी मनमुटाव होता है, बात-बात पर झगड़ा होता है, एकदूसरे पर ताने कसे जाते हैं और जहाँ न एकदूसरे के प्रति सम्मान होता है और न ही सहयोग का भाव।

परिवार वह परिवेश है, जिसमें व्यक्तित्व पनपते हैं, जहाँ एक इनसान तैयार किया जाता है, ताकि उसके माध्यम से पारिवारिक विकास का क्रम यों ही जारी रहे और हमारा समाज विकसित होता रहे। आजकल पारिवारिक परिवेश के इस क्रम में कई तरह की दरारें देखने को मिलती हैं, प्रायः लोगों के बीच में तकरारें होती हैं, रिश्तों में बँधने के बाद और थोड़े दिन साथ रहने के बाद कुछ ऐसा होता है कि लोग फिर एकदूसरे के साथ रहना पसंद नहीं करते, स्वतंत्र रहना चाहते हैं और फिर शादीशुदा लोग तलाक का कदम उठा लेते हैं। तलाक यानी ऐसी दरार, जो कानूनी तौर पर रिश्तों को तोड़ देती है और उन्हें एकदूसरे से अलग कर देती है।

भावनात्मक सहयोग और प्रेरणा—ये दो ऐसी चीजें हैं, जो हर इनसान की सबसे बड़ी जरूरतें हैं। ये न रहें तो व्यक्ति का हौसला बीच राह में ही दम तोड़ देता है। इसलिए परिवार की जरूरत होती है; क्योंकि यहाँ सभी आपस में जुड़े होते हैं और एकदूसरे को हर तरह से मदद व सहयोग करते हैं। परिवार को टूटने से बचाने के लिए साथ रहना जरूरी है और पारिवारिक संबंध बनाए रखने के लिए प्यार दरसाने और जताने की जरूरत है। इसलिए यह जरूरी है कि परिवार में हर त्योहार, हर विशेष दिन जैसे—जन्म दिन, विवाह दिन आदि साथ-साथ मिलकर मनाए जाएँ और पारिवारिक सदस्यों को यह एहसास दिलाया जाए कि वे परिवार के लिए कितने खास हैं, कितने विशेष हैं तथा उनके बिना परिवार कितना अधूरा है और परिवार में उनका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जिंदगी की दौड़ में हम प्रायः शतरंज के खेल की भाँति एकदूसरे से आगे निकलना चाहते हैं, एकदूसरे को हराना चाहते हैं, लेकिन पारिवारिक दायरे में ऐसा नहीं होता। वहाँ न तो एकदूसरे के लिए खिलाफ चालें चली जाती हैं और न ही एकदूसरे के नुकसान के लिए कदम बढ़ाए जाते हैं, बल्कि परिवार में अपनों के विकास व उन्नति के लिए अपना नुकसान तक सह लिया जाता है। उदाहरण के लिए, परिवार का कोई सदस्य यदि गंभीर रूप से बीमार है तो लोग उसके इलाज के लिए पैसा खरच करने में संकोच नहीं करते, भले ही इसके लिए उन्हें दूसरों से पैसा कर्ज लेना पड़े, जेवर या मकान गिरवी रखने पड़ें। इसी तरह बच्चों की अच्छी शिक्षा व परवरिश के लिए माता-पिता प्रायः बहुत कष्ट झेलते हैं, बहुत कुछ सहन करते हैं, कई तरह की दिक्कतों का सामना करते हुए पैसा जोड़ते हैं और फिर उन पैसों को अपने बच्चों के सुखद भविष्य के लिए प्रसन्न मन से खरच कर देते हैं। उन्हें ऐसा करने में दुःख नहीं, बल्कि परम सुख व संतोष की अनुभूति होती है। इस तरह परिवार ही होता है, जहाँ लोग अपना नुकसान उठाकर

भी दूसरों का फायदा कराते हैं। इन्हीं पारिवारिक भावनाओं के कारण ही तो परिवारों का इतना महत्त्व है।

परिवार के हर सदस्य की परिस्थितियाँ अलग होती हैं, इसलिए उनकी समस्याएँ भी अलग होती हैं। परिवार के सभी सदस्यों की प्राथमिकता यही रहती है कि घर-परिवार में शांति, सुकून व प्रसन्नता बनी रहे और इसके लिए एकदूसरे को समझना बहुत जरूरी है, इससे आपसी तकरार में कमी होती है। हालाँकि पारिवारिक झगड़े, आपसी मनमुटाव आज हर घर की समस्या बन गए हैं और मनोचिकित्सकों का यह कहना है कि आज जीवनशैली ही ऐसी हो गई है कि पड़ोस ही नहीं, परिवार के लोगों में भी दूरियाँ बढ़ती नजर आ रही हैं। परिवार आज बड़े संकट के दौर से गुजर रहे हैं। कारण स्पष्ट है कि पारिवारिक सदस्यों में सहज संवाद की कमी होती जा रही है और इसके कारण जो जितना करीब रह रहा है, वह उतना ही एकदूसरे से दूर होता जा रहा है।

यह सच है कि यदि पारिवारिक रिश्तों में आपसी संवाद की कमी हो, तो रिश्तों में एक अनजाना-सा खिंचाव आ जाता है। मोबाइल एक वह जरिया है, जिसके माध्यम से दो लोग आपस में जुड़ते हैं, बातचीत करते हैं, और धीरे-धीरे उनमें एक मजबूत रिश्ता बन जाता है। दुर्भाग्यवश पारिवारिक जीवन में मोबाइल आज एक ऐसा साधन बनता जा रहा है, जिसके कारण लोग इसमें इतना समय देने लगे हैं कि उन्हें अपने रिश्तों की देख-भाल करने, उन्हें सँभालने के लिए भी समय नहीं बचता। स्थिति तो यह आ गई है कि लोग आपस में एकदूसरे को समय देने की अपेक्षा मोबाइल को अधिक समय व महत्त्व देने लगे हैं। जिसको अधिक समय व महत्त्व दिया जाता है, उसी से हमारा रिश्ता मजबूत होता है। यह परिवारों की विडंबना है कि लोग परिवार के सदस्यों के बजाय मोबाइल से अपना रिश्ता जोड़ रहे हैं और मोबाइल की दुनिया से अपनी भावनाओं की संतुष्टि कर रहे हैं।

आज पारिवारिक जीवन से जुड़ी हुई कई तरह की चुनौतियाँ हैं, जैसे—आर्थिक तनाव, परिवार में किसी सदस्य की बीमारी, पति-पत्नी के झगड़े, सास-बहू की नोंक-झोंक, भाइयों में तकरार, बड़े-छोटों के बीच प्रेम न होने की समस्या आदि; जिनसे परिवार प्रायः रूबरू होते रहते हैं। हर समस्या का हल तलाशा जा सकता है, इसलिए आवश्यकता है कि पारिवारिक सदस्यों में संवाद बढ़ाया जाए न कि विवाद। बड़े-बुजुर्गों से सलाह-सुझाव लेकर भी समस्याओं के समाधान ढूँढ़े जा सकते हैं या फिर किसी मनोचिकित्सक की मदद भी ली जा सकती है, जिससे अपनी बात खुलकर की जा सके और समस्या का समाधान ढूँढ़ा जा सके। इस तरह पारिवारिक दायरे में समस्याएँ तो आती ही रहती हैं, लेकिन इन समस्याओं से निपटने के लिए बड़े लोगों को समझदार बनना होगा और उन्हें अपने से छोटे लोगों में समझ पैदा करनी होगी, तभी परिवार की यह बगिया सुविकसित होगी और नष्ट होने से बचेगी। ❑

गांधी जी का सत्याग्रह आंदोलन चल रहा था। ब्रिटिश सरकार गांधी जी के इन आंदोलनों को मिल रही सफलता से बहुत परेशान हो चुकी थी। एक अँगरेज अधिकारी ने क्रोध में आकर यहाँ तक कह दिया कि—यदि मुझे गांधी कहीं मिल जाए तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ। बात छिपने वाली नहीं थी। गांधी जी को भी सुनने को मिल गई। वे अगले दिन सुबह ही अकेले उस अँगरेज अधिकारी के बँगले पर पहुँच गए। उस समय वह सो रहा था। जागने पर गांधी जी से भेंट हुई तो वे बोले—"मैं गांधी हूँ। आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है। आपकी प्रतिज्ञा आसानी से पूर्ण हो सके, अतः मैं यहाँ अकेला ही चला आया हूँ। अब आपको आपका कार्य करने में सुविधा होगी।" यह सुनकर वह अधिकारी पानी-पानी हो गया। उसके मुँह से एक शब्द न निकला। उसका हृदय उसी समय परिवर्तित हो गया।

क्लेशों से मुक्ति का द्वार है विद्या

कुदरत की बनाई हुई यह कायनात कितनी सुंदर है। मानो संसार के जर्रे-जर्रे में सौंदर्य-ही-सौंदर्य बिखरा हुआ हो। रंग-बिरंगे पुष्पों से सजी-धजी यह दुनिया हर किसी के मन को बरबस अपनी ओर खींचती है। कहीं विशालकाय सागर-सरिताएँ, तो कहीं गगनचुंबी पर्वतमालाएँ, तो कहीं विस्तृत भू-भाग तक फैले वन्य प्रदेश—हमारे मन को सदा सुहाते व लुभाते हैं। प्रभातवेला में सूर्य की लालिमा, तो निशाकाल में चंद्रमा से छिटकती धवल चाँदनी मानो हमारे आनंद में चार-चाँद लगा देती है। कुदरत के इस आँगन में थलचर, जलचर, नभचर आदि सभी जीव अपने अनुकूल आनंद मनाते और अठखेलियाँ करते हैं।

यदि मनुष्यों का जीवन देखें तो हमारा जीवन हमेशा सुख और दुःख के झूले में झूलता दिखाई पड़ता है। व्यक्ति नानाविध समस्याओं, कष्टों व क्लेशों से घिरा रहता है और जब तक उन क्लेशों से मुक्ति नहीं मिल जाती, तब तक सौंदर्य व आनंद से भरी इस दुनिया में रहते हुए भी व्यक्ति सौंदर्य व आनंद के स्पर्श से दूर ही रहता है। यदि हमें हमारे जीवन के हर पल को, हर क्षण को, हर लम्हे को सौंदर्य व आनंद से भरना है तो हमें उन क्लेशों से मुक्ति पानी ही होगी, जो हमारे आनंद की राह में सबसे बड़ी बाधा हैं। आखिरकार वे क्लेश हैं कौन? उन क्लेशों का कारण क्या है? महर्षि पतंजलि योगसूत्र—2/3 में क्लेशों को कुछ इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥

अर्थात—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि ये पाँच क्लेश हैं। इसके साथ ही योगसूत्रकार यह भी मानते हैं कि इन सभी प्रकार के क्लेशों का कारण अविद्या ही है, अज्ञान ही है। अतः अंतस् में विद्या का, ज्ञान का उदय होते ही सारे क्लेश स्वयं ही तिरोहित हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। इसलिए शास्त्रों ने, शास्त्रकारों ने सर्वज्ञ ज्ञान की बड़ी महिमा बताई है। गीताकार ने गीता—4/38 में कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात—इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है।

इन पंचक्लेशों का स्वरूप क्या है? जैसे किसी रोग का सही निदान पाने के लिए उस रोग का समुचित ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही पंचक्लेशों से पार जाने के लिए उन्हें गहराई से समझना आवश्यक है, तभी हम उनका सही निदान पा सकते हैं। पंचक्लेशों में प्रथम है—अविद्या। अविद्या अर्थात मिथ्या ज्ञान। अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की अनुभूति ही अविद्या है। लोक और परलोक के सभी भोग, यहाँ तक कि मनुष्य शरीर भी अनित्य है, नाशवान है, सदा नहीं रहने वाला है, फिर भी इसे नित्य अथवा सदा रहने वाला समझ लेना ही अविद्या है। शरीर, सांसारिक रिश्ते-नाते एवं समस्त भोग-पदार्थों को पाने की हमारी अभिलाषा अविद्या के कारण ही है। वैभव तो इंद्रादि देवताओं का भी नित्य नहीं; क्योंकि पुण्य क्षीण होने पर वे भी स्वर्ग से गिरा दिए जाते हैं। श्रीमद्‌भागवत—11/10/26 में भगवान ने उद्धव जी के प्रति कहा है—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥

अतः स्वर्गलोकादि के अनित्य भोगों को सर्वदा स्थिर समझकर उन्हें पाने की अभिलाषा करना भी अविद्या है।

मनुष्य शरीर के नाशवान, वीभत्स व घृणास्पद होने पर भी किसी स्त्री या पुरुष के प्रति आसक्ति—मूर्खता ही तो है। स्त्री-पुरुष में कामांध होकर आसक्त होने वाले व्यक्तियों में और मल-मूत्र में विहार करने वाले कीड़ों में भला क्या भेद हो सकता है? श्रीमद्‌भागवत—11/26/20-21 में भगवान ने विषय-भोगों, विषय-वासनाओं में आसक्त व्यक्तियों के प्रति कहा है कि त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियों के समूह रूप इस देह में आसक्त पुरुषों में और मल-मूत्र में किलबिलाने वाले कीड़ों में भला क्या अंतर है? कुछ भी नहीं। दोनों एक जैसे ही हैं। यह सब अविद्या ही है, मिथ्या ज्ञान ही है।

यदि यह कहा जाए कि विषयों के उपभोग द्वारा इंद्रियों की तृप्ति होने के कारण जिस सुख की अनुभूति होती है, क्या वह सुख नहीं और इंद्रियों का तृप्त न होना क्या दुःख नहीं तो इसका उत्तर यह है कि विषय-भोगों द्वारा भोग-तृष्णा की शांति ही कहाँ है? क्या अग्नि में घृत डालने पर अग्नि कभी शांत हुई है? इसी प्रकार विषयों के उपभोग से भोग-तृष्णा कभी भी शांत नहीं हो सकेगी। अपने चित्त में भोगों को पाने की जो वृत्ति है, प्रवृत्ति है, अभिलाषा है, ज्ञान की अग्नि से उसे भस्म कर देना ही इसका एकमात्र स्थायी निदान है, समाधान है।

सारी विश्व-वसुंधरा के सभी भोगों का भोग कर चुकने के बाद हमें वापस इसी बिंदु पर, इसी निष्कर्ष पर फिर से वापस आना पड़ेगा कि भोगों की तृप्ति नहीं, निवृत्ति संभव है, और यह निवृत्ति विद्या, ज्ञान से ही संभव है। अब यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस सत्य को आज, अभी और इसी जन्म में समझ लेना चाहते हैं या फिर कई योनियों में, कई जन्मों तक भटक लेने के बाद इस सत्य को स्वीकारना चाहते हैं? अच्छा हो हम इसे आज और अभी ही समझ लें, जिससे हमें हमारे जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इस संदर्भ में बृहदारण्यक उपनिषद्—4/4/12 का कथन है—

आत्मानं चेदि् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

अर्थात—पुरुष यदि अपने आप को जान जाए कि मैं सारे दुःखों के संबंध से रहित नित्य, मुक्त, आनंदस्वरूप हूँ तो वह इच्छाएँ करता हुआ, विषय भोगों में आसक्त होकर भला क्यों दुःख से संतप्त होगा?

द्वितीय क्लेश है—अस्मिता। पुरुष शुद्ध, चेतन तथा भोक्ता है और बुद्धि मलिन व जड़ है, पर इन दोनों के अभेद होने की प्रतीति होना ही, आभास होना ही अस्मिता है। द्रष्टा चेतन है और बुद्धि जड़ है। इनकी एकता हो ही नहीं सकती तथापि अविद्या के कारण दोनों की एकता-सी प्रतीत होती है। इसी को द्रष्टा और दृश्य का संयोग कहते हैं, प्रकृति और पुरुष का संयोग कहते हैं। अविद्या व अज्ञान के कारण भिन्न होते हुए भी द्रष्टा और दृश्य अभिन्न प्रतीत होते हैं। योगवासिष्ठ का वचन है—

द्रष्टा दृश्यबलाद्बन्दो दृश्याभावे विमुच्येत।

अर्थात—द्रष्टा की दृश्य के साथ एकता मान लेना ही बंधन है। दृश्य के वश में होने से वह बद्ध है और दृश्य को मिथ्या समझने से वह मुक्त हो जाता है।

राग एवं द्वेष क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ क्लेश हैं। सुख और दुःख के अनुभव के समय चित्त में सुख और दुःख के संस्कार स्थिर हो जाते हैं, अंकित हो जाते हैं। जिस विषय व पदार्थ से सुख की अनुभूति हुई, उसके प्रति आसक्ति हो जाती है—यही राग है और जिस विषय व पदार्थ से दुःख की प्राप्ति होती है—उसके प्रति द्वेष हो जाता है। ये दोनों ही क्लेश रूप हैं। इनके वशीभूत होकर ही सब अनर्थ कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

अभिनिवेश पंचम क्लेश है। मैं कभी न मरूँ व सदा जीवित रहूँ, ऐसी इच्छा रखना ही अभिनिवेश है। यह मृत्यु का भय है, जो राजा-रंक, फकीर, विद्वज्जनों को समान रूप से सताता रहता है, दुःख देता रहता है। इसका आदि कारण भी अज्ञान, अविद्या ही है; क्योंकि इन्हीं के कारण हम अपने को शरीर मान बैठे हैं और यह भूल जाते हैं कि हम वस्तुतः अजर, अमर, अविनाशी आत्मा हैं।

इन सभी प्रकार के क्लेशों का मूल कारण अविद्या है, अस्तु विद्या के प्रचंड प्रहार से ही इनका अंत संभव है व क्लेशों से मुक्ति संभव है। ज्ञान की प्रचंड अग्नि से ही अपने चित्त में जन्म-जन्मांतरों से अंकित अविद्याजन्य संस्कारों को भस्मीभूत किया जा सकता है। इसलिए योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता—4/37 में कहते हैं—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

अर्थात—जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। ऐसे परम ज्ञान की उपलब्धि भला कब, किसे और कैसे होती है? इसके उत्तर में गीताकार—4/39 में कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात—जितेंद्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलंब के तत्काल ही भगवत्प्राप्ति रूप परम शांति को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार हम भी अपने आत्मबोध का जागरण कर आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, ईश्वरीयज्ञान को पाकर सर्वत्र सदा आनंदित रह सकते हैं; साथ ही हर पल, हर क्षण परमानंद व ब्रह्मानंद की अनुभूति कर सकते हैं। ❑

शरीर का भी रखें ध्यान
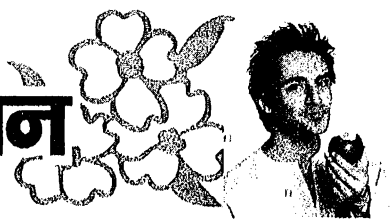
हम सभी को ईश्वर से उपहारस्वरूप यह शरीर मिला हुआ है और इसी के सहारे हमें अपने पूरे जीवन की यात्रा करनी है। जिंदगी की दौड़ में प्रायः हम अपने इस शरीर के बारे में नहीं सोचते, जो हमेशा हमारा साथ देता रहा है और यह भी नहीं सोचते कि आगे भी तो उसका ही साथ लेना है और इसी लापरवाही का परिणाम होता है कि उम्र आने से पहले ही हमारा शरीर हमारा साथ छोड़ने लगता है। उम्र से पहले ही आँखें कमजोर हो जाती हैं, दाँतों में दरद रहने लगता है और वे हिलने लगते हैं, समय से पहले ही हमारे बाल सफेद हो जाते हैं और असमय झड़ने लगते हैं, कानों से धीमा सुनाई देना शुरू हो जाता है, हाथों व पैरों के जोड़ों में दरद रहने लगता है, त्वचा में समय से पहले ही झुर्रियाँ आने लगती हैं और शरीर की त्वचा बूढ़े होने से पहले ही ढीली पड़ने लगती है और शरीर की पाचनशक्ति भी कमजोर होने लगती है। यह सब होता है, हमारे द्वारा लापरवाहीपूर्ण व गलत जीवनशैली अपनाने से।

भगवान बुद्ध के अनुसार—हमारा शरीर बहुमूल्य है। यह हमें जाग्रत करने का माध्यम है। इसलिए इसकी सजगता से देख-भाल करें। हममें से ज्यादातर लोग अपने मन से अपने शरीर में रहते ही नहीं हैं और इसी कारण हमें अपने साँस लेने, हिलने-डुलने, शरीर के आकार-प्रकार और महसूस करने की ताकत का अंदाजा ही नहीं होता। लोगों का अपनी सोचने-समझने की क्षमता पर ही ज्यादा ध्यान रहता है और वे प्रायः अपने शरीर व उसके महत्त्व को गैरजरूरी मान लेते हैं और दिमाग की ताकत को ज्यादा महत्त्व देते हैं, जैसे—ऑफिस वर्क, कंप्यूटर वर्क, पढ़ाई-लिखाई आदि, लेकिन इस दौरान गलत ढंग से बैठकर हम अपने शरीर में कई तरह की समस्याओं को आमंत्रित कर बैठते हैं और परिणामस्वरूप कमर दरद, पीठ दरद, पैरों व हाथों की उँगलियों में दरद, सिर में दरद आदि समस्याएँ झेलते हैं।

प्रायः लोग चिंता व तनाव में इतना लिप्त हो जाते हैं कि उस दौरान उन्हें अपने शरीर पर ध्यान देने की नहीं सूझती। कार्यालय की मेज पर घंटों काम करते हुए बैठे रहना और तनाव को अपने साथ लिए रहना आधुनिक जीवनशैली की देन बन गया है और इस दौरान हम अपने शरीर की सक्रिय रहने की आवश्यकता से एकदम अनभिज्ञ रहते हैं।

शैशवावस्था में बच्चे शारीरिक रूप से बहुत सक्रिय रहते हैं और उनका शरीर भी उतना ही स्वस्थ रहता है, लेकिन धीरे-धीरे बड़े होने पर उनकी शारीरिक सक्रियता कम होती जाती है और मानसिक सक्रियता बढ़ती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें शरीर संबंधी कई तरह की समस्याएँ पैदा होने लगती हैं। जिस तरह मन के विकास के लिए मानसिक रूप से स्वस्थ चिंतन व मानसिक गतिविधियों में संलग्न रहना जरूरी है, उसी तरह शरीर को स्वस्थ बनाए रखने व उसके उचित विकास के लिए स्वस्थ खान-पान व शारीरिक गतिविधियों की आवश्यकता है और यह खेल-कूद के माध्यम से, योग-व्यायाम आदि के माध्यम से ही अच्छे से पूरी हो सकती है।

खेल-कूद शरीर को स्वस्थ रखने का एक अच्छा माध्यम है; क्योंकि इसके माध्यम से हम शारीरिक व मानसिक गतिविधियाँ एक साथ करते हैं और इसमें हमें तनाव लेने, चिंता करने या किसी से भयभीत होने की भी जरूरत नहीं होती। खेल-कूद में हम प्रायः लोगों के संपर्क में आते हैं, इससे हमारी व्यवहारिक कुशलता बढ़ती है और अन्य लोगों को समझने की परख भी हमारे अंदर पैदा होती है। इस तरह खेल-कूद हमारे शरीर व मन के संबंधों को सुधारने का एक अच्छा माध्यम है और इसके माध्यम से हम अपने शरीर व मन, दोनों के प्रति सजग होते हैं।

शरीर व मन को स्वस्थ रखने का दूसरा माध्यम सात्त्विक व उचित भोजन है। ऐसा कहा भी गया है कि—**जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन**। निश्चित रूप से ग्रहण किए जाने वाले भोजन का हमारे शरीर व मन, दोनों पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। भोजन के स्थूलतत्त्वों से हमारा शरीर पोषित होता है और इसके

सूक्ष्मतत्त्वों के प्रभाव से हमारा मन पोषित होता है। इसलिए साधना करने वाले व्यक्तियों को सात्त्विक भोजन लेने की सलाह दी जाती है; क्योंकि सात्त्विक भोजन से मन शांत होता है व उसमें स्थिरता व प्रसन्नता आती है। सात्त्विक भोजन आसानी से पच भी जाता है और शरीर में इससे हलकापन भी आता है। चूँकि साधना के लिए मन का शांत, स्थिर, प्रसन्न व सहज होना बहुत जरूरी है, इसलिए साधना करने वाले व्यक्तियों का तामसिक व राजसिक भोजन करना वर्जित है, क्योंकि राजसिक भोजन से मन चंचल, अस्थिर व अशांत होता है और तामसिक भोजन जड़ता व आलस्य लाता है। तामसिक व राजसिक भोजन करने से शरीर को उसे पचाने में अधिक श्रम करना पड़ता है, साथ ही इससे शरीर में पाचन संबंधी बीमारियाँ भी पनप सकती हैं।

तामसिक व राजसिक भोजन में स्वाद तो बहुत होता है, लेकिन उसमें पोषक तत्त्वों की कमी होती है, जिसके कारण हमारे शरीर के अंग-अवयव पुष्ट नहीं हो पाते, ऐसा भोजन करने से हमारा पेट तो भर जाता है, लेकिन शरीर को जरूरी पोषक तत्त्व न मिल पाने से वह कमजोर रह जाता है। अतः ऐसा भोजन मोटापा तो बढ़ाता है, लेकिन शरीर में शक्ति व क्षमता की वृद्धि नहीं करता। अतः व्यक्ति की शारीरिक शक्तियाँ व क्षमताएँ असमय ही कमजोर हो जाती हैं।

वर्तमान में हर वस्तु पैकेट में मिलने लगी है, जिसमें उसे खराब न होने देने के लिए कई तरह के प्रिजरवेटिव्स (संरक्षक पदार्थ) का उपयोग किया जाता है, जो कि हमारे स्वास्थ्य की दृष्टि से नुकसानदायक होते हैं। पैकेट व डिब्बाबंद भोजन करने की आदतों को अपनाने के कारण हम ताजा भोजन व ताजे फल खाने की अपनी परंपरा को भुलाते जा रहे हैं। इन सबका नतीजा यह है कि हमारा शरीर भी स्वस्थ व तरोताजा महसूस नहीं कर पाता और मन भी असहज बना रहता है।

यदि हमें अपने शरीर व मन को लंबे समय तक स्वस्थ रखना है तो इन परंपराओं का निर्वहन करना होगा। मन के मनोरंजन के लिए तो हम बहुत से कदम उठाते हैं, परंतु शरीर का भी उतना ही ध्यान हमें रखने की जरूरत है, ताकि वो हमारी जीवनयात्रा में मजबूत सहयोगी की भूमिका निभा सके। ❑

राष्ट्रमंडलीय प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री को लंदन जाना था, परंतु उनके पास दो ही कोट थे। उनमें से एक में बड़ा छेद हो गया था। शास्त्री जी के निजी सचिव वेंकटरमण ने उनसे नया कोट सिला लेने का आग्रह किया, परंतु शास्त्री जी ने यह कहकर इनकार कर दिया कि अभी तो इस पुराने कोट को पलटवा लो। यदि मरम्मत के बाद ठीक नहीं लगा तो दूसरा सिलवा लेना।

जब कोट दरजी के यहाँ से लौटकर आया तो उसमें मरम्मत का पता नहीं चल रहा था। यह देख शास्त्री जी बोले—"जब कोट की नई सिलाई का पता हमें नहीं चल पा रहा है तो सम्मेलन में भाग लेने वाले भला इसे क्या पहचानेंगे?" वे उसी कोट को पहनकर लंदन के सम्मेलन में भाग लेने गए। ऐसी थी उनकी सादगी। कुछ व्यक्ति इसे कृपणता समझ सकते हैं, पर सत्य यही है कि इस सादगी से ही अपव्यय को रोका जा सकता है और उसी के माध्यम से देश के विकास का पथ निर्धारित किया जा सकता है।

उठो, जागो और प्रभुप्राप्ति को आगे बढ़ो

आत्मदर्शन, ईश्वरदर्शन, आत्मानुभूति व परमात्मानुभूति आदि मानव जीवन की परम व चरम उपलब्धियाँ हैं। मनुष्य जीवन में आत्मज्ञान व ब्रह्मज्ञान के माध्यम से इन परम उपलब्धियों को पा लेना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। यदि हम मनुष्य जीवन में भी आत्मानुभूति व परमानुभूति से वंचित रहे तो भौतिक जगत की समस्त उपलब्धियों को पाकर भी वास्तव में हम दीन-हीन व तुच्छ ही बने रहेंगे। यदि हमने आत्मदर्शन, ईश्वरदर्शन की अनुभूति कर ली तो फिर हमारे लिए कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। जो हर पल आनंद के सागर में निमग्न हो, जो हर पल ब्रह्मानंद व परमानंद के ऊँचे गगन में उन्मुक्त, जीवनमुक्त, बंधनमुक्त हो उड़ रहा हो, भला उसे खेलने के लिए घर के आँगन में झूलने वाले झूले की क्यों जरूरत पड़ेगी?

हमारे जीवन में भौतिक समृद्धि अवश्य होनी चाहिए, पर इसे कभी भी अपने जीवन का परम लक्ष्य नहीं बनने देना चाहिए। जब हमारा जीवन ही क्षणभंगुर है, यह भौतिक जगत भी नाशवान है तो इस नश्वरता में हमारे समस्त भौतिक सुख-साधन भी तो नश्वर ही हैं, क्षणभंगुर ही हैं। आत्मा नित्य सनातन और पुरातन है, इसलिए आत्मिक आनंद भी शाश्वत और सनातन है। अतः जो आत्मिक व आध्यात्मिक वैभव नश्वर नहीं, क्षणभंगुर नहीं, वे ही असली वैभव हैं; क्योंकि उन्हीं में आनंद व परमानंद की अलौकिक अनुभूति है। संसार की सभी वस्तुएँ व भोग पदार्थ यहीं पर रह जाते हैं, पर धर्म लोक-परलोक दोनों जगत में काम आता है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने एक स्वर में हमें इस परम धन को पाने की प्रेरणा दी है।

अपने पूर्वजन्म के पुण्य संस्कार के कारण जिनका मन पावन है, निर्मल है उनके मन में जीवन के प्रारंभ से ही इस नश्वर जगत के विषय-भोगों, वासनाओं, कामनाओं के प्रति वैराग्यभाव जाग्रत होने लगता है और वे ईश्वरप्राप्ति के मार्ग पर चल पड़ते हैं। वे ज्ञान, कर्म व भक्ति की त्रिवेणी में नित्य स्नान करने लगते हैं। वे जप, तप, ध्यान आदि में शनैः-शनैः डूबने लगते हैं और अंततः अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं। शास्त्रकारों ने ऐसे लोगों को ही जागा हुआ कहा है अर्थात जो सदैव अपने जीवन-लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं, जो सांसारिक भोगों के प्रति बड़े ही उदासीन हैं, पर आत्मानुभूति व परमानुभूति के लिए हर पल आतुर हैं, व्याकुल हैं व प्रयासरत हैं। जो लोग विषय-भोगों में डूबे हुए हैं, वे मानो जाग कर भी सो रहे हैं।

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता—2/69 में इसे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अर्थात—संपूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्यज्ञानस्वरूप परमानंद की प्राप्ति के लिए योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है। योगी ही परम शांति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला भोगी नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी रामचरितमानस, अयोध्याकांड—92/2 में इस सत्य को कुछ इस प्रकार कहते हैं—

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥

अर्थात—इस जगतरूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं। योगी वे हैं, जो परमार्थी हैं, प्रपंचों से मुक्त हैं। इस जगत में जीव को जागा हुआ तभी जानना चाहिए, जब उसे संपूर्ण भोग-विलासों से वैराग्य हो जाए।

युगों-युगों से समस्त शास्त्रों से हमारे लिए बस, एक ही स्वर-संदेश प्रस्फुटित हो रहा है—जागते रहो, जागते रहो और सदैव जागते रहो! जिन्होंने भी इस संदेश को सुन व समझ लिया, उनका जीवन सचमुच धन्य हो

गया। कबीर, मीरा, नानक, रैदास, नरसिंह मेहता, चैतन्य महाप्रभु, महावीर, गौतम आदि संतों, योगियों ने इसी स्वर-संदेश को सुना और ईश्वर को पाने के मार्ग पर चल पड़े और अंततः अपने लक्ष्य को भी एक दिन प्राप्त कर सके।

ऐसा नहीं है कि उन योगियों, संतों के जीवन में बाधाएँ नहीं आईं। उनके जीवन को देखें तो उनके जीवन में बाधाएँ तो अनेक थीं, पर उनके अंतस् की पुकार पर, उनके प्रचंड साहस, शौर्य व आत्मबल के बल पर भारी बाधाएँ भी उनका मार्ग नहीं रोक सकीं। उनके समक्ष एक ओर भौतिक जीवन का आकर्षण था तो दूसरी ओर ईश्वर की ओर चल पड़ने की उनकी अपनी अंतरात्मा की आवाज। उन्होंने सचमुच भौतिक आकर्षणों को ठोकर मारते हुए ईश्वर के मार्ग पर चलना ही स्वीकार किया। ऐसे अगणित संत व योगी भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर ध्रुवतारे बनकर चमक रहे हैं और हमें भी उसी राह पर चलने की प्रेरणा दे रहे हैं।

उन्हीं महान योगियों में एक हैं—युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव श्रीराम शर्मा आचार्य। उनके द्वारा रचित युगसाहित्य में अध्यात्म मानो महासागर बनकर लहरा रहा हो और अध्यात्म पिपासुओं की प्यास बुझा रहा हो। उन्होंने ईश्वर के मार्ग पर चलने हेतु हमें एक अनूठा उपकरण प्रदान किया, जिसे हम उपासना, साधना और आराधना कहते हैं। उपासना अर्थात भक्तियोग, साधना अर्थात ज्ञानयोग और आराधना अर्थात कर्मयोग। यदि हम सचमुच ईश्वर को पाने के मार्ग पर चलना चाहते हैं तो हम नित्य ज्ञान, भक्ति और कर्म के इस त्रिवेणी संगम में स्नान करते रहें। यदि हम सचमुच ऐसा कर सके तो एक-न-एक दिन हमें भी हमारी मंजिल अवश्य मिलेगी। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ❑

ऋषि शाकल्य वन में साधना करने के लिए बैठे थे। गहन वन में रहने वाला एक वनवासी रोज उनके सम्मुख कुछ समिधाएँ, कंद-मूल, फल-फूल इत्यादि रख जाया करता था, ताकि उनको पूजन-अर्चन एवं भोजन में तकलीफ न हो। बहुत दिनों पश्चात उनका ध्यान इस ओर गया कि कोई उनकी सेवा कर रहा है। उन्होंने उससे कहा कि यदि उसे कोई वरदान की इच्छा है तो वह उसे माँग ले। इस पर वनवासी बोला—"भगवन्! मेरी तो एक ही इच्छा है कि परमात्मा संसार का पालन करते-करते थक जाता होगा। वह यदि प्रसन्न रहेगा तो थकेगा नहीं। मैं चाहता हूँ कि वह सदा प्रसन्न रहे।" उसके भक्तिभाव को जानकर ऋषि अवाक् रह गए। कुछ दिन पश्चात उस वनवासी से ऋषि ने कहा—"मैंने सुना है कि भगवान श्रीकृष्ण इस वन की ओर आ रहे हैं। जब वे तुम्हारे द्वार पर आएँ तो उन्हें मेरी कुटिया पर भी आने के लिए कहना।"

उस वनवासी ने सोचा कि भगवान उसके द्वार पर क्यों आएँगे और यह देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब अगले दिन भगवान उसके द्वार पर उपस्थित हो गए। वह भावविभोर होकर उनके चरणों में बैठ गया। भगवान उससे बोले—"मुझे ऋषि शाकल्य ने बताया कि तुम्हें मेरे कष्ट की चिंता थी। इसीलिए तुम्हारा सान्निध्य पाने के लिए मैं यहाँ स्वयं उपस्थित हो गया।" जो भगवान का ध्यान इस भाव के साथ करते हैं कि वे भगवान के कार्य में कैसे सहयोगी बन सकते हैं, उनका ध्यान रखने के लिए भगवान स्वयं प्रस्तुत हो जाते हैं।

समस्याओं से भागें नहीं, सुलझाने का साहस जुटाएँ

समस्याएँ हर किसी के जीवन में आती हैं, इनसे सभी को परेशानी भी होती है और कोई भी इनके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाता। प्रायः समस्याओं की शुरुआत छोटे रूप में होती है, लेकिन उन्हें अनदेखा करने पर वो अपना बड़ा रूप लेने लगती हैं। प्रायः लोग आलस्य, टाल-मटोल या लापरवाही के कारण उन्हें बड़ा बनने का अवसर देते हैं, जैसे—समय पर बिल न भरना, शरीर या मन में पनप रही बीमारी पर ध्यान न देना, सामान की टूट-फूट ठीक न कराना आदि। यह सभी जानते हैं कि सिले हुए कपड़े की सिलाई यदि खुल गई है और उसे सिला न जाए तो देर-सबेर उसकी सिलाई खुलती ही जाएगी, क्योंकि उसे खुलने का स्थान व कारण मिल गया है। ठीक इसी तरह हमारे जीवन में भी समस्याएँ छोटे रूप में प्रवेश करती हैं, लेकिन सही समय पर उन पर ध्यान न देने से उन्हें बिगड़ने का समय मिल जाता है और फिर वो एक विकराल रूप में हमारे सम्मुख प्रकट हो जाती हैं।

एक समस्या अपने से जुड़ी हुई कई अन्य तरह की समस्याओं का कारण भी बन सकती है। कुछ समस्याएँ हमारी गलतियों के कारण पैदा होती हैं तो कुछ समस्याएँ उन गलतियों को बार-बार दोहराने के कारण पैदा होती हैं और कुछ समस्याएँ तो जाने-अनजाने पैदा हो जाती हैं। असली समस्या तब आती है, जब हमें उनका उचित समाधान नहीं मिलता और उस एक समस्या के कारण हमारी अनेक समस्याएँ निरंतर बढ़ती जाती हैं।

अपनी समस्याओं को नियंत्रित करने के लिए जब हम अपनी गलतियों को सुधारना चाहते हैं, तब उसमें भी हमें समय लगता है; क्योंकि कई बार गलतियाँ सुधारने के बावजूद परिस्थितियाँ नहीं सँभलतीं। ऐसी स्थिति में पछतावा करने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं रह जाता और फिर ऐसा लगता है कि काश, इसके बारे में पहले सोच लिया होता, तो ऐसी स्थिति नहीं आती।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार—व्यक्ति जब तनाव में होता है, तब उस दौरान वह स्वयं पर नियंत्रण खोने लगता है। जैसे ही व्यक्ति अपने मन को स्वतंत्रता देता है यानी उसे कुछ भी करने का अवसर देता है, तो वह समस्याओं की भूमिका तैयार करने लगता है। ऐसी स्थिति में कभी अहंकार तो कभी असुरक्षा की भावना उसके विचारों में आती है। इस तरह व्यक्ति डर, तनाव और चिंता के चक्र से स्वयं को घेर लेता है।

लेखक और शिक्षाविद् चार्ल्स आर० स्विंडल के अनुसार जीवन में चिंताओं का वास्तविक कारण तो 10 प्रतिशत ही होता है, पर बाकी का 90 प्रतिशत हम अपनी कल्पनाओं के कारण खड़ा कर लेते हैं। इसलिए जीवन के परिदृश्य में हमारे नजरिये का बहुत असर पड़ता है। यदि हमारा मन चिंतित है, तो वह न तो ठीक ढंग से सोच पाता है और न ही दूसरों को ठीक ढंग से सुन व समझ पाता है। ऐसी स्थिति में वह एक बात को दूसरी बात से जोड़ने लगता है और अपनी ही पिछली बातें, घटनाएँ, कहानियाँ और पूर्वाग्रह दोहराने लगता है। इस तरह हमारा गलत नजरिया हमारी भावनाओं और प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित करने लगता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार—किसी भी समस्या के आने पर जो लोग केवल दूसरों को या अपने हालात को दोष देते हैं, वे भावनाओं में बहकर गलत निर्णय लेने लगते हैं। इसके विपरीत जो मौजूदा हालात की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं, वे बुरे हालातों से बाहर निकलने के लिए अपना मार्ग बना लेते हैं और विकल्पों की राह खोल देते हैं।

इस तरह समस्या का स्वरूप क्या है? यह देखने वाले के नजरिये पर निर्भर करता है। किसी के लिए वह समस्या बड़ी हो सकती है तो किसी के लिए वह छोटी हो सकती है तो किसी के लिए वह निरर्थक हो सकती है। इसलिए किसी भी तरह की समस्या आने पर उसके लिए अन्य लोगों से सलाह लेना फायदेमंद होता है; क्योंकि अन्य लोगों का उसी समस्या को देखने का नजरिया भिन्न हो सकता है और समाधान का तरीका भी कुछ नया हो सकता है, जिसे हम समस्या से घिरे होने पर सोच नहीं पाते।

रिश्ते निभाने में जो समस्याएँ आती हैं, उनके लिए विशेषज्ञों का सुझाव है कि दूसरों के प्रति कृतज्ञता का भाव अपने विश्वास और प्यार को बनाए रखता है। हमारी प्रतिक्रियाएँ प्रायः तभी गलत होती हैं, जब हमारा खुद पर या दूसरों पर भरोसा कम होने लगता है और ऐसे समय में कृतज्ञता का भाव हमारे इस भरोसे को बनाए रखता है।

प्रायः लोग अपना गुस्सा दूसरों पर उतारते हैं। यह भी एक तरह की प्रतिक्रिया है, जो किसी क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। सामने वाला व्यक्ति जो दे रहा होता है, वह उसकी समस्या है, पर यह विकल्प व्यक्ति के पास सदैव होता है कि वह उसे किस रूप में ले। हमेशा परिस्थिति एक जैसी नहीं रहती, गुस्सा आता भी है, तो वह एक सीमित समय के लिए होता है, पूरे दिन कोई भी व्यक्ति गुस्से के आवेश में नहीं रह सकता। परिस्थितियाँ बदलते ही मनःस्थिति को भी बदलना पड़ता है, इसलिए यह ध्यान रखें कि देर-सबेर परिस्थितियाँ सँभलेंगी ही, इसलिए जहाँ तक हो सके बड़ों के लिए विनम्रता, छोटों के लिए उदारता का व्यवहार बनाए रखना, रिश्तों में आने वाली समस्या को कम करने का एक कारगर उपाय हो सकता है।

जहाँ तक संभव हो अपनी प्रतिक्रियाएँ तुरंत देने से बचें, क्योंकि जल्दबाजी में दी गई प्रतिक्रियाएँ प्रायः बाद में पछतावा देती हैं। यदि बात बिगड़ती है, तो उसे कभी भी आवेश में आकर सुलझाया नहीं जा सकता, बल्कि उसे शांति के साथ ही सुलझाया जा सकता है, इसलिए माहौल को बिगाड़ने के बजाय उसे सँभालने पर ध्यान देना चाहिए। हर किसी की बात सुननी चाहिए और तभी निर्णय लेना चाहिए। जीवन में समस्याएँ अनेकों हो सकती हैं, पर यदि मन शांत रखा जाए तो प्रत्येक का समाधान संभव है।

❑

मिथिला के राजा चित्रदत्त अत्यंत धर्मात्मा थे, परंतु उनकी प्रजा में अनीति व अनाचार का आचरण फैल रहा था। प्रजा को सत्पथ पर लाने के लिए उन्होंने एक योजना बनाई और उसके तहत स्थान-स्थान पर आग लगवा दी। लोग इसके समाधान के लिए जब राजा के पास पहुँचे तो राजा ने उन सबको कोल्हू में जुतवाने का आदेश दिया। इस भयंकर दंड को सुनकर प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गई। लोग दुःखी होकर ईश्वर को पुकारने लगे। राजा को जब यह पता चला तो उसने घोषणा कराई कि भगवान ने मुझे स्वप्न में छह माह तक प्रजा को दंड देना बंद रखने का आदेश दिया है। प्रजा ने चैन की साँस ली और भगवान को धन्यवाद देने के लिए दान-धर्म इत्यादि कार्यों में जुट गई। छह माह बीत जाने पर राजा ने कहा कि ईश्वर ने मुझसे प्रजा को छह माह और समय देने को कहा है। उसके बाद ही मैं प्रजा पर अत्याचार करूँगा। प्रजा ने संतोष की साँस ली और भगवान को अपने धार्मिक कार्यों के माध्यम से पुकारा। एक वर्ष तक भयग्रस्त प्रजा धर्माचरण में निरत रही; उसके बुरे कर्म छूट गए और सदाचरण उसके व्यवहार में सम्मिलित हो गया। अब राजा ने प्रजा को बुलाकर कहा—"तुम लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कष्ट दिया था। अग्निकांड में जिसका जो नुकसान हुआ हो और जो जेल में बंद हों, वे अपना हर्जाना राजकोष से ले जाएँ।" इस तरह उस राजा ने अपनी प्रजा की कुरीतियों को सदा के लिए छुड़ा दिया।

भिरावां बाई का जन्म मुल्तान (वर्तमान पाकिस्तान) में पं. श्री प्रभुदयाल शर्मा जी की पुत्री के रूप में हुआ था। समयानुसार भिरावां बाई का विवाह पं० श्री हरनारायण जी के साथ संपन्न हुआ। श्री हरनारायण जी अत्यंत सरल, सौम्य, सदाचारी और सात्त्विक विचारों से संपन्न सादा जीवन जीते थे। वे सरकारी नौकरी करते थे। भिरावां बाई भी अत्यंत सदाचारिणी, धर्मपरायणा एवं पतिव्रता थीं। भगवत्कृपा से पति-पत्नी दोनों ही साधन, भजन, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा आदि बड़े प्रेम व श्रद्धापूर्वक साथ-साथ किया करते थे।

उसी समय पंजाब के प्रसिद्ध संत स्वामी सियाराम जी महाराज मुल्तान पधारे। उनके सत्संग में भिरावां बाई भी अपने पति के साथ आने लगीं। स्वामी जी के सत्संग से ये दंपती बहुत प्रभावित हुए। उनकी प्रार्थना सुनकर स्वामी जी ने पति-पत्नी को योग की दीक्षा दी। पति-पत्नी दोनों ब्रह्ममुहूर्त में उठते, स्नानादि से निवृत्त होकर अपने इष्टदेव योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान की पूजा-आराधना करते, फिर योग की साधना में लग जाते और गहन ध्यान का आनंद लेते।

भिरावां बाई तो साधना में शरीर की तनिक-भी चिंता नहीं करतीं और पाँच-पाँच दिन तक निराहार रह जातीं। उन्होंने कई चांद्रायण व्रत भी किए और व्रतोपवास द्वारा शरीर को सूक्ष्म बनाने का उनका प्रयास चलता रहता। योग-साधना के समय भी उनके आराध्य श्रीकृष्ण का विग्रह सदा उनके साथ रहता। श्रीकृष्ण कीर्तन में वे प्राय: प्रेमविभोर हो जाया करतीं। योग-साधना तथा श्रीकृष्ण भक्ति के साथ-साथ वे पति सेवा में भी चूक नहीं होने देती थीं।

पति की सेवा-शुश्रूषा वे दत्तचित्त होकर किया करतीं। उनका आहार सदा सात्त्विक होता एवं लहसुन, प्याज आदि का वे स्पर्श भी नहीं करती थीं। कुएँ का जल भी अपने हाथ से ही निकालकर लातीं। रसोई स्वयं बनातीं और आराध्य को भोग लगाकर पति को खिलातीं। उसके अनंतर स्वयं प्रसाद ग्रहण करतीं। अपने जीवन में उन्होंने कभी उपवास नहीं छोड़ा। रेल की यात्रा में भी वे निर्जला उपवास कर लेतीं और यात्रा पूरी हो जाने पर स्नान करतीं। कभी स्वास्थ्य संबंधी समस्या होती तो सिर्फ आयुर्वेदिक एवं प्राकृतिक औषधियाँ ही लिया करती थीं।

इनके पुत्र श्री कृष्णानंद जी कथा-कीर्तन द्वारा सनातन धर्म का प्रचार करते थे। इनके दूसरे पुत्र श्री चंद्रमणि जी रेलवे की नौकरी करते थे। इस प्रकार पूरा परिवार खुशहाल था। भिरावां बाई नियमित रूप से गायत्री मंत्र का जप करती थीं। जप किए बिना वे अन्न नहीं ग्रहण करती थीं। अस्तु उनके दोनों पुत्र भी नियमित रूप से गायत्री मंत्र का जाप करते थे। रेलवे में नौकरी करने वाले उनके पुत्र रिश्वत को पाप समझते थे। उनकी शुद्ध, ईमान एवं श्रम की कमाई थी। इस कारण भिरावां बाई अपने पुत्र से जीवन निर्वाह के लिए केवल 5 रुपये लेती थीं। एक बार उनके पुत्र श्री चंद्रमणि जी ने 25 रुपये भेजे, पर बाई जी ने उन्हें वापस कर दिया। बोलीं—"मुझे 5 रुपये मासिक में ही जीवन निर्वाह करना है।"

बाई जी अपने यहाँ प्रतिदिन संध्या समय पास-पड़ोस की बहनों के साथ श्री भगवन्नाम कीर्तन करतीं एवं सत्संग कराया करतीं। वे बहनों को त्याग एवं तपपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा देतीं। वे सत्संग में बहनों से कहतीं— "जिन्हें यमदूतों एवं नारकीय यंत्रणाओं से बचना है और जिन्हें अपना लोक-परलोक सफल बनाना है उन्हें श्रीभगवान की भक्ति करनी चाहिए। भगवान की भक्ति में अद्भुत आनंद है।"

कथा, कीर्तन एवं सत्संग, मानस-पाठ आदि के द्वारा वे सनातन धर्म के प्रचार में संलग्न रहती थीं। अपने पति की मृत्यु के बाद उनका मन संसार से और अधिक विरक्त हो गया। उनकी साधना और तीव्र हो गई। फलस्वरूप उन्हें अपने मृत्युकाल का ज्ञान हो गया और उन्होंने अपने शरीरत्याग का निश्चित समय सबके समक्ष प्रकट कर दिया। उनके परिचितों को यह सुनकर बड़ा क्लेश हुआ।

उनकी घोषित मृत्यु की तिथि के दिन बड़ी भीड़ थी। सारे परिचित, परिवार के सदस्य, रिश्ते-नाते, आस-पड़ोस के सभी लोग बाई जी के परमधाम-गमन का दृश्य देखने के लिए उपस्थित हो गए थे। गौ के पवित्र गोबर से धरती लीपी गई। सामने श्रीकृष्ण का चित्रपट रखा गया और गाजे-बाजे के साथ भगवन्ननाम-संकीर्तन प्रारंभ हुआ। दिन के चार बजे बाई जी को यह संसार छोड़ देना था। उन्होंने स्नानोपरांत शुद्ध वस्त्र धारण कर श्रीकृष्ण की सविधि पूजा एवं प्रार्थना की। गंगाजल, तुलसी एवं श्रीभगवान का चरणामृत मुख में लेकर आसन पर बैठ गईं। प्राणायाम के द्वारा वे शरीर छोड़ने ही जा रही थीं कि उनके भतीजे पं. जुगलकिशोर के पुत्र वैद्यराज पं. श्री देवेंद्र शर्मा भीड़ चीरते हुए बाई जी के चरणों में प्रणाम कर उनके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो गए।

परम पूजनीय माँ! श्री देवेंद्र शर्मा जी ने निवेदन किया—"आप प्रेम, भक्ति एवं वैराग्य की मूर्ति एवं सनातन धर्म की प्रचारिका हैं, फिर ऐसा धर्मविरुद्ध आचरण क्यों?" "धर्मविरुद्ध आचरण कैसा बेटा?"—बाई जी ने पूछा। पं. देवेंद्र शर्मा शास्त्रज्ञ थे। वे बोले माँ आप परमयोगिनी होकर भी दक्षिणायण में शरीर त्याग कर रही हैं। यह शास्त्रसम्मत नहीं, आप उत्तरायण में परमधाम गमन करें।" बाई जी ने कहा—"तुम्हारी बात तो उचित है पुत्र! पर अब मुझे जाने दो। अब मुझे स्वयं अपने हाथ से पानी आदि लाने में बड़ा कष्ट होगा। शरीर साथ नहीं देता।"

शास्त्री देवेंद्र जी बोले—"उत्तरायण के आने में कुल एक माह आठ दिन की देर है। इतने दिन कुएँ से पानी लाने आदि की सेवा मैं स्वयं करूँगा। इतने दिन आप कृपापूर्वक हम लोगों को अपने पवित्र सत्संग एवं सेवा से लाभ उठाने का अवसर प्रदान करें।" यह सुन वे बोलीं—"अच्छा जाओ। अब मैं एक माह आठ दिन के बाद आऊँगी।" सबको लगा की माताजी मृत्यु को इतने दिनों के लिए विदा कर रही हैं। सबने जय-जयकार की।

अनासक्त चित्त, वैरागी भाव, भगवत्प्रेम, गोसेवा एवं तपोबल से माताजी ने आई हुई मृत्यु को वापस कर दिया, किंतु उनके कथनानुसार उनका शरीर अधिक दुर्बल और अशक्त हो गया। उनकी सेवा में श्री देवेंद्र शर्मा शास्त्री और बाई जी की बड़ी पुत्री कुशाबाई रहने लगे। कुएँ से पानी लाने से लेकर सारा सेवाकार्य ये लोग करते। शरीर त्याग के चार-पाँच दिनों पूर्व समीप के गाँव के एक सज्जन पधारे और बाई जी के पुत्र श्री कृष्णानंद जी से उसी दिन, गोशाला के उत्सव पर भाषण देने के लिए निवेदन किया, जिस दिन माताजी अपने भौतिक शरीर को छोड़ने वाली थीं। उस दिन उन्होने कथा कहने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

वे सज्जन बाई जी के पास पहुँचे और बोले—"माँ! उसी दिन, जिस दिन आप सदा के लिए यहाँ से पधारने वाली हैं, गोशाला का उत्सव है। आपके पुत्र के भाषण न करने से हजारों रुपये की होने वाली आय मारी जाएगी और गायें भूखों मरेंगी।" बाई जी ने अपने पुत्र से कहा—"बेटा! तुझे भाषण देने अवश्य जाना चाहिए। गोमाता भूखों मरेंगी तो बड़ा पाप होगा। तू मेरी चिंता न कर और अवश्य जाना।"

माताजी की आज्ञानुसार श्री कृष्णानंद जी उस उत्सव में चले गए। उधर नियत समय पर बाई जी ने स्नान-पूजन से निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र धारण किए। गंगाजल तथा तुलसीदल मुख में लिया और गोबर से लिपी भूमि पर बिछे कुशासन पर बैठकर उपस्थित जनसमुदाय के द्वारा भगवन्नाम-संकीर्तन सुनते एवं भगवन्नाम लेते हुए शरीर त्याग दिया।

पूरा जनसमूह बाई जी की जय-जयकार करने लगा। बाई जी की अरथी का जलूस-सा निकला। भगवन्ननाम-संकीर्तन हो रहा था। अरथी पर पुष्प और पुष्पमालाएँ चढ़ाई जा रही थीं। यह घटना सन् 1945 ई. की देखी-सुनी व सर्वथा सत्य है और इस सत्य का प्रमाण है कि यदि ईश्वरनिष्ठ जीवन हो तो मृत्यु का समय स्वेच्छा से तय होता है। ❑

चला लक्ष्मीश्चला: प्राणाश्चले जीवितयौवने।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

अर्थात—इस चराचर जगत में लक्ष्मी, प्राण, यौवन और जीवन सब कुछ चल अर्थात नाशवान है; केवल एक धर्म ही निश्चल है।

जब कर्म हो निष्काम तो बंधन कैसा ?

जीवन में कर्म तो सभी करते हैं, पर कर्म को कुशलतापूर्वक करने की कला विरले ही जानते हैं। इस जगत में कोई व्यक्ति क्षण मात्र भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। यदि कोई शारीरिक रूप से कोई कर्म नहीं कर रहा है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह कर्म नहीं कर रहा है; क्योंकि शारीरिक रूप से कर्मशून्य, क्रियाशून्य दीखते हुए भी वह मानसिक रूप से किसी-न-किसी चिंतन, मनन, संकल्प, विचार में रत अवश्य ही होगा।

इस प्रकार कर्म किए बिना तो कोई रह ही नहीं सकता और यदि कर्म हुए तो उनका कोई-न-कोई फल, परिणाम तो अवश्य प्राप्त होगा। शास्त्रों में ठीक ही कहा गया है कि न तो कर्म करने से बचा जा सकता है और न ही कर्मफल से। जहाँ कुछ कर्मफल मधुर होते हैं तो वहीं कुछ कटु भी। इतना तो तय है कि हमें हमारे कर्मानुसार अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, सुखद-दुःखद फल प्राप्त होकर रहते हैं। मधुर फल हमें भाते हैं, सुखदायी लगते हैं, हमें अनुकूल लगते हैं तो प्रतिकूल फल हमें सदा दुःखदायी लगते हैं।

भौतिक दृष्टि से हम कर्म एवं उसके फल के बारे में ऐसा ही सोचते हैं, पर योगियों की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। अध्यात्मवेत्ताओं, योगियों की दृष्टि में कर्मफल शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे हर रूप में दुःखदायी ही हैं; क्योंकि वे ही हमारे बंधन के कारण हैं। बंधन फिर शुभ के हों, अथवा अशुभ के, सुख के हों अथवा दुःख के, हर हाल में वे हमें बाँधने वाले ही होते हैं। जिस प्रकार जंजीर सोने की हो अथवा लोहे की; हैं तो आखिर वे बंधन ही। एक पंछी सोने के पिंजरे में बंद हो अथवा लोहे के पिंजरे में, दोनों का बंधन दुःखद ही होता है; क्योंकि वे दोनों हमारी उन्मुक्तता, हमारी आजादी को बाँधने वाले होते हैं। जब तक हम शुभ अथवा अशुभ, अच्छे या फिर बुरे जिस किसी भी प्रकार के परिणामों से बँधे हैं, तब तक हमारी उन्मुक्तता, हमारी आजादी हमसे दूर ही रहेगी और जहाँ उन्मुक्तता नहीं, वहाँ आनंद कैसा ?

सत्य यही है कि हम न तो कर्म से बच सकते हैं, न ही कर्मफल से। पर हाँ! हम उन कर्मफलों के बंधन से तो अवश्य ही बच सकते हैं और यही हमारे लिए महत्त्वपूर्ण भी है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता—2/50 में कर्मफल के बंधन से बचने का उपदेश देते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

अर्थात—समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप, दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात उनसे मुक्त हो जाता है। इसलिए तू समत्वरूप योग में लग जा; क्योंकि यह समत्वरूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात कर्मबंधन से छूटने का उपाय है।

हमें यहाँ यह समझना है कि हमें कर्म करते समय उस कर्म-संपादन में अपना शत-प्रतिशत पुरुषार्थ लगाना है। हमें उस कर्म के कुशल संपादन पर ही केंद्रित रहना है, उससे प्राप्त होने वाले फलों पर नहीं; क्योंकि कर्म करते हुए यदि बार-बार उसके फलों का ही चिंतन बना रहा तो कर्म-संपादन में लगने वाली हमारी समस्त ऊर्जा बिखर-सी जाएगी और उस कर्म में हम अपना शत-प्रतिशत नहीं लगा पाएँगे। फल की चिंता नहीं करने से हमारी समस्त ऊर्जा तब कर्म-संपादन में शत-प्रतिशत नियोजित हो सकेगी। फल की चिंता करने से फल की प्राप्ति न तो शीघ्र होने वाली है और न ही परिणाम में अधिक। इतना ही नहीं यदि कर्मफल हमारे अनुकूल आया तब तो हमें अच्छा लगेगा, पर यदि फल हमारे प्रतिकूल आया तो हम पुनः ऐसे गिरेंगे जैसे—पंख कट जाने के बाद असीम आकाश में उड़ता हुआ पंछी भी धरती पर आ टपकता है, तब सचमुच हमारा सब कुछ समाप्त हो जाता है।

इसके विपरीत यदि फल की चिंता करे बिना हमने कर्म किए तब उनका परिणाम चाहे कुछ भी हो, हम तब बीच समुद्र में खड़े विशाल स्तंभ की तरह तूफानों के बीच भी अजेय व अभेद्य बने रहेंगे; क्योंकि कर्मों का फल हमें स्पर्श कैसे कर सकेगा ? फल तो हमें उसकी चिंता न करने

पर भी प्राप्त होंगे ही; पर तब हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, दोनों ही स्थिति में हम सम ही रहेंगे, एकरूप ही रहेंगे, उन्मुक्त ही रहेंगे, अनासक्त ही रहेंगे और आनंदित ही रहेंगे। हम दर्शकदीर्घा में बैठकर संसार का कौतुक—खेल तो तब भी देखेंगे, संसार में रहते हुए कर्म तो तब भी करेंगे, पर उस खेल में मिली जीत न तो हमें उत्तेजित व अतिहर्षित कर सकेगी और न ही हार हमें निराश कर सकेगी। हमें संसार में रहते हुए संसार के हर कर्म को योगदृष्टि से ही देखना व करना चाहिए। कर्मफल के प्रति आसक्ति, कर्मफल की चिंता आदि का त्याग करके ही कर्म करना चाहिए। इसे ही निष्काम कर्म कहते हैं और जहाँ निष्काम कर्म है, वहाँ कोई बंधन नहीं; क्योंकि वहाँ फलों के प्रति कोई आसक्ति नहीं है।

इस नियम के अनुसार, यह स्पष्ट है कि जो भी कर्म हम फल की आशा से करते हैं, वे ही बंधनकारक हैं। हमारी आशा व आसक्ति ही तो यह बंधन है, पर निष्काम भाव से किए गए कर्म में आशा, अपेक्षा व कामना का कोई बंधन है नहीं, इसलिए ऐसे कर्म हमें बाँधते नहीं, वरन मुक्त करते हैं। तब सचमुच हमारी भौतिक प्रगति के साथ-साथ हमारी आध्यात्मिक प्रगति भी होने लगती है। आसक्ति के बंधन से मुक्त होते ही हम ईश्वर के अखंड राज्य में प्रवेश पाते हैं व जन्म-मरण के बंधन से भी सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। योग की इस महान महिमा के कारण ही योगेश्वर श्रीकृष्ण सिर्फ अर्जुन को ही नहीं, वरन हम सबको भी योगी बन जाने की पावन प्रेरणा गीता—6/46 में दे रहे हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात—हे अर्जुन! योगी पुरुष तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन! तू योगी बन। ❑

आजाद हिंद फौज के गठन के लिए एक बार सुभाष चंद्र बोस बैंकाक गए। वहाँ रहने वाले प्रवासी भारतीयों ने उनका भव्य स्वागत किया। एक विशाल सभा में नेताजी ने परतंत्र भारत की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए भारतभूमि की स्वतंत्रता के लिए प्रवासी भारतीयों को प्रेरित किया। इसके फलस्वरूप असंख्य प्रवासी भारतीय भारतभूमि को स्वतंत्र कराने के लिए संकल्पित हो उठे, परंतु नेताजी का उद्देश्य वहीं समाप्त नहीं हो जाता था। उन्हें आजाद हिंद फौज के संगठन के लिए धन की सख्त आवश्यकता थी, परंतु वे समझ नहीं पा रहे थे कि इस बात को कैसे कहें?

कुछ महिलाओं ने नेताजी के इस संकोच को समझ लिया और उन्होंने मंच पर चढ़कर अपने आभूषण उनके हाथों में रख दिए। देखते-देखते वहाँ अपने आभूषण देने वाली महिलाओं की एक बड़ी पंक्ति लग गई। यह देखकर नेताजी भावविभोर होते हुए बोले—"पुत्र, कुपुत्र हो सकता है, परंतु माता, कुमाता नहीं हो सकती। मुझे यहाँ निराश और दुःखी देखकर मेरी माँ ही मेरी लाज बचाने यहाँ आ गई। भारतमाता की आजादी का दर्शन मेरे भाग्य में है या नहीं, मैं नहीं जानता, परंतु आजादी के इस अभियान में मुझे माँ की महिमा के दर्शन हो गए और मैं कृतार्थ हो गया।" उनके मुख से इन शब्दों को सुनकर प्रत्येक श्रोता की आँखें सजल हो उठीं।

विक्षोभ के वर्ष

विगत अंक में आपने पढ़ा कि करुणा और सहिष्णुता को आत्मसात् करते हुए समाज में जाने का संस्कार गायत्री परिवार के हर वानप्रस्थी को दिया जा रहा था। कनिष्ठ वानप्रस्थ योजना के माध्यम से यह उद्देश्य पूरा करने का भाव था कि कार्यकर्त्ता, लोगों को नए युग का संदेश सुनाएँ और उन्हें समाज में सुख-शांति का वातावरण तैयार करने के लिए प्रेरित करें। कनिष्ठ वानप्रस्थ शिविर के आरंभ के अवसर पर पूज्य गुरुदेव ने शिविरार्थियों से यह भी कहा कि राजनीति और शुष्क, नीरस समाज सेवा से क्षुब्ध लोगों का एक बड़ा वर्ग धर्मतंत्र की ओर आकर्षित होगा। राजनीतिक मंच पर भी उन दिनों भारी उथल-पुथल थी। उन परिस्थितियों को शांत करने के उद्देश्य से पूज्य गुरुदेव ने उस वर्ष गायत्री जयंती से लेकर गुरु पूर्णिमा तक एक विशिष्ट अनुष्ठान करने के लिए लोगों को संदेश भी दिया था। आइए पढ़ते हैं इसके आगे का विवरण.........

शांतिकुंज के एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता ने इस संभावना पर अपनी चिंता जताई और कहा—"अगर इस तरह के राजनीतिक लोग हमारे यहाँ घुलने-मिलने लगेंगे तो मिशन की छवि पर भी आँच आ सकती है। और साहब अब तो स्थितियाँ बदलती जा रही हैं। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के करने के लिए नया क्षेत्र फिर से खुल गया है। वे आंदोलन आदि में व्यस्त हो जाएँगे, हमारे पास क्यों आएँगे?"

गुरुदेव ने कहा—"आंदोलन वगैरह चार-छह दिन की बात है। सूक्ष्मजगत में जैसा कुछ घट रहा है, उसके अनुसार अभी जो जोश-खरोश दिखाई दे रहा है, उसमें जबरदस्त ब्रेक लगने वाला है। हो सकता है कुछ महीनों के लिए ये लोग आंदोलनों की बात ही भूल जाएँ और अपने आप को बचाने की फिकर करें।" कुछ पल रुककर गुरुदेव ने कहा—"धर्ममंच पर बड़ी जिम्मेदारी आ गई है। यह संदेश देने के लिए ही इस बार अखण्ड ज्योति का कवर बदला है।"

राजनीतिक दल 25 जून की रैली कामयाब बनाने के लिए सघन जनसंपर्क कर रहे थे। उसका प्रचार और आंदोलन का माहौल बनाने के लिए जैसी मुहिम चली थी, उसमें अच्छी गरमाहट पैदा कर ली थी। 25 जून को दिल्ली में एक विशाल रैली हुई। इसमें गैर कांग्रेसी और गैर वामपंथी राजनीतिक दलों के तमाम कार्यकर्त्ता देश के कोने-कोने से इकट्ठे हुए। उनके साथ राजधानी और आस-पास के राज्यों से आए सामान्य जन भी थे। रैली को जयप्रकाश नारायण के अलावा मोरारजी देसाई, अटल बिहारी वाजपेयी, चौधरी चरण सिंह और चंद्रशेखर आदि नेताओं ने संबोधित किया।

इस रैली में आह्वान किया गया कि 29 जून से राष्ट्रव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ा जाए। आंदोलनकारी सरकार का काम-काज चलना असंभव कर दें। सशस्त्र सेनाओं, पुलिस बल और सरकारी अधिकारियों से अपील की गई कि वे किसी भी सरकारी आदेश को नहीं मानें। इस समय जो सरकार काम कर रही है, वह पूरी तरह 'गैरकानूनी' और 'गैरसंवैधानिक' है। मोरारजी देसाई ने अपने संदेश में कहा कि मौजूदा सरकार को हट जाने के लिए हम लोग मजबूर कर देंगे। हजारों कार्यकर्त्ता प्रधानमंत्री निवास को घेरकर बैठ जाएँगे। वे दिन-रात धरना दिए रहेंगे और त्यागपत्र देने के लिए चिल्लाते रहेंगे।

राजनीतिक पर्यवेक्षकों के अनुसार—आंदोलन के जो तरीके अपनाए जा रहे थे, वे लोकतंत्र की मर्यादा में ही आते थे। जयप्रकाश नारायण और उनके साथ जुड़े नेताओं के निरंकुश हो जाने या सत्ता बदलने की किसी हिंसक

योजना के मूर्तरूप लेने का कोई खतरा नहीं था। तत्कालीन सरकार अपनी कमजोर वैधानिक स्थिति और आंदोलन को मिल रहे समर्थन के कारण चिंतित थी। उसने अपने बचाव की एक योजना बनाई। लोकतांत्रिक अधिकारों को स्थगित करना और आंदोलनकारियों की धर-पकड़ करना उस योजना का एक हिस्सा था। 25 जून की रैली देखकर यह समझ लिया गया कि योजना को मूर्तरूप देने का समय आ गया है।

अँधेरे में रोशनी का आह्वान

25 जून की रैली संपन्न होने के कुछ ही घंटों बाद उस योजना पर काम शुरू हो गया। रात गहराने लगी और उसके साथ ही अँधेरे की वह 'चादर' भी, जिसमें भारतीय लोकतंत्र एक अनिश्चित काल के लिए ढक गया। उस रात प्रमुख राजनेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार लोगों में जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवानी, चंद्रशेखर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख बालासाहब देवरस समेत संघ के कई प्रमुख अधिकारी और जेपी आंदोलन के सैकड़ों अग्रणी कार्यकर्त्ता शामिल थे। कई शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, ट्रेड यूनियन नेता और छात्र नेता भी जेल में बंद कर दिए गए। उन्हें किस अपराध में बंद किया गया, यह नहीं बताया गया। कोई आरोप पत्र भी नहीं दिए गए। 25-26 जून की उस रात को सभी सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाएँ निलंबित करते हुए संविधान की धारा 352 के तहत आंतरिक आपात्काल लागू कर दिया गया। उस घोषणा में संविधान के संघीय प्रावधानों को निलंबित कर दिया गया। प्रेस पर कड़ी सेंसरशिप लागू की गई और सरकार का किसी भी स्तर पर विरोध कर रहे सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति को भी पकड़कर बंद कर दिया गया। घोषणा की गई कि जैसे ही परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी, सामान्य हालात बहाल कर दिए जाएँगे।

25-26 जून की उस रात जब धर-पकड़ शुरू हुई तो कई आंदोलनकारी नेता और कार्यकर्त्ता छिप गए। भनक लगते ही उन्होंने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया और पहले से निर्धारित या किसी अज्ञात अनिश्चित स्थान के लिए रवाना हो गए। उस तिथि में कुछ कार्यकर्त्ता शांतिकुंज भी पहुँचे। वे इस सावधानी के साथ आए थे कि पहचाने नहीं जाएँ। परिस्थितियों पर निगाह रखने और उसके अनुरूप काम करने का निश्चय कर वे क्षेत्रों में निकलने वाले थे। इसके लिए उन्होंने एक सप्ताह तक परिसर में रहकर मिशन की विचारधारा का अध्ययन किया और प्रवचन आदि की तैयारी भी की। जो प्रेरणा इन कार्यकर्त्ताओं को यहाँ तक खींच लाई थी, उसी तरह की उमंग क्षेत्र में कई राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के भीतर भी जगी थी। उन्होंने पहला काम तो अपनी जगह छोड़ देने का किया था और इसके साथ अभ्यस्त वेशभूषा छोड़कर धोती-कुरता पहनने लगे थे। कुरता भी पीले रंग का।

अखण्ड ज्योति का जुलाई, 75 अंक जून के आखिरी सप्ताह में परिजनों तक पहुँचा। उस पर भगवान कृष्ण का चित्र छपा था, जिसमें वे हाथ में रथ का पहिया चक्र की भाँति उठाए हुए थे। बहुत से कार्यकर्त्ताओं के पास यह अंक 26 या 27 जून को पहुँचा। उस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ जो रूप ले चुकी थीं, उनमें कार्यकर्त्ताओं ने सहज ही संदेश प्राप्त कर लिया कि उनकी भूमिका क्या है? पन्ने पलटे तो और भी स्पष्ट हो गया। पाया कि गुरुदेव ने कार्यकर्त्ताओं से अपने यहाँ रामायण के माध्यम से लोक-शिक्षण की गतिविधियाँ चलाने के लिए कहा है। 'अपनों से अपनी बात' स्तंभ में यह निर्देश सिर्फ जनमानस के परिष्कार के लिए पूरी तरह सक्रिय हो जाने के लिए दिया गया था। इस संदेश और भगवान कृष्ण के चित्र वाले कवर ने आंदोलन में लगे राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को भी प्रेरित किया कि वे धर्ममंच के माध्यम से लोगों में आस्था और संकल्प जगाने का काम करें।

रामकथा से विश्राम

यों शांतिकुंज में रामायण सत्र 15 मई से शुरू हो गए थे। आपात्काल लगने के करीब डेढ़ महीने पहले शुरू हुए इन सत्रों का राजनीति से कोई लेना-देना नहीं था। पर अंधकार और अनिश्चय का जो धुँधलका उन दिनों छा रहा था, उसमें रामकथा का महत्व तो था ही। सत्र शुरू होने के दिनों में रामायण के प्रसिद्ध विद्वान कपींद्र जी हरिद्वार आए। उनकी यह यात्रा रामकथा के एक आयोजन के संबंध में थी। गायत्री परिवार से उनका पुराना संबंध था। अफरा-तफरी के इस दौर में वे शांतिकुंज आए और गुरुदेव से मिले। उन्होंने रामायण शिविर की कक्षा और पाठ्यक्रम को देखा और एक मजेदार बात कही। उन्होंने जो वृत्तांत सुनाया वह ऐतिहासिक है, पर उसका सामयिक महत्त्व भी था। उन्होंने कहा कि गोस्वामी महाराज के समय में चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था का माहौल था। कहने को सम्राट अकबर का राज था, जिन्हें हम अकबर महान कहते हैं उस युग में हुए बादशाहों में वे

सबसे अच्छे थे, पर राज-काज चलाने वाले अधिकारी और कर्मचारी तो वही थे। फिर बादशाह भी कहाँ तक ध्यान दे, कितना दे और क्यों दे? सो प्रजा का दोहन होता था। अधिकारी उसे सताते थे। लोग निरुपाय—जाएँ तो कहाँ जाएँ? संतों और विद्वानों ने जनता को समझाया कि भगवान राम की शरण में जाएँ। उनकी कथा कहें-सुनें, उसमें आनंद तलाशें। पर वह संभव नहीं हो रहा था; क्योंकि वाल्मीकि रामायण संस्कृत में थी और इसका लोगों को अभ्यास नहीं था। संस्कृत ही क्या—भाषा का भी अभ्यास नहीं था।

कर्पींद्र जी ने कहा कि गोस्वामी जी को रामकथा लिखने की प्रेरणा हुई। उन्होंने कथा लिखना आरंभ किया। वे संस्कृत में काव्य लिखने लगे, पर आश्चर्य की बात कि वे पद्य लिखते और सहेजकर रखते जाते थे, सुबह उठकर देखते तो पाते कि वे पद गायब हो गए हैं। एक दिन-दो दिन-तीन दिन-सात दिन तक यह क्रम चला। गोस्वामी जी परेशान। उन्होंने भगवान शिव की आराधना की और पूछा कि क्या बात है? भगवान शिव ने स्वप्न में कहा—"भाषा में रचना करो। लोक समाज का कल्याण भाषा में निबद्ध रामकथा से ही होगा।" गोस्वामी जी ने भाषा में रामचरित लिखना शुरू किया और वह कथा जन-मन के लिए रंजनी सिद्ध हुई। उसने अपने समय और समाज की विपदाओं से टूट रहे मानस को संबल प्रदान किया। कर्पींद्र जी ने यह प्रसंग सुनाकर कहा था कि रामकथा का यह मंगलकारी प्रशिक्षण लोगों को दिशा देगा। लोगों को तो सुख मिलेगा ही, यह प्रशिक्षण लेकर गए लोग भी सुखी और संतुष्ट होंगे। उन्हें भी यश मिलेगा। आराधक ही नहीं, इस वटवृक्ष के नीचे आकर बैठने वाले सामान्य बटोही भी यश और पुण्य के भागी होंगे।

(क्रमशः)

लंदन में रहने वाले एक अँगरेज दंपती धर्मपरायण व परोपकारी थे। एक वर्ष उन्हें व्यवसाय में बड़ा नुकसान हुआ। इस घटना से पति अत्यंत चिंतित व निराश रहने लगे और उनका धीरे-धीरे ईश्वर पर से विश्वास हटने लगा। पत्नी उन्हें बहुत समझाती, लेकिन पति की मनःस्थिति को परिवर्तित करने में विफल रही। अँगरेजों में किसी की मृत्यु पर काले कपड़े पहनकर शोक मनाने का रिवाज है। एक दिन पत्नी, पति के सम्मुख काले कपड़े पहनकर खड़ी हो गई। पति ने पूछा—"क्या किसी की मृत्यु हो गई है, जो तुमने काले कपड़े पहने हैं।"

इस पर पत्नी बोली—"हाँ! ईश्वर की मृत्यु हो गई है।" पति गुस्से में बोला—"अरे! ईश्वर की भी कभी मृत्यु होती है?" पत्नी बोली—"तो फिर आपने व्यापार में नुकसान होते ही ईश्वर पर भरोसा करना क्यों छोड़ दिया? यदि ईश्वर जीवित है तो अच्छे दिन फिर लौटा देगा।" पत्नी की बातें सुनकर पति को अपनी भूल का एहसास हुआ और उसने निश्चय किया कि वह अपनी चिंताओं को त्यागकर पुनः धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करेगा।

मनोविकारों की आध्यात्मिक उपचार प्रक्रिया

पूरा विश्व आज मनोरोगों की भयंकर चपेट में है। विविध मनोरोगों की जैसे बाढ-सी आ गई है। अपराध, हिंसा, आतंक, आत्महत्या के मूल में रोगी मन ही काम कर रहा है। समाचारपत्रों के आईने से देखें तो पूरी मानवजाति एक विक्षिप्तता के दौर से गुजर रही है। आज विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा किसी-न-किसी मनोरोग की गिरफ्त में है। देश-विदेश में हुए अलग-अलग अध्ययनों में यह सामने आया है कि शारीरिक बीमारी से पीड़ित लगभग एक-तिहाई रोगी मानसिक रोगों से भी पीड़ित हैं, लेकिन प्रायः ऐसे रोगियों की पहचान नहीं हो पाती।

तनाव, चिंता, भय, बेचैनी, उद्विग्नता, निराशा, क्रोध जैसे नकारात्मक भाव जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं। जब ये व्यवहार को प्रभावित करने लगते हैं तो मनोविकार का रूप लेते हैं। प्राथमिक अवस्था में मनोवैज्ञानिक इनको न्यूरोटिक स्तर का मानते हैं। इनका निग्रह करना रोगी के लिए संभव होता है, लेकिन यदि इनको बे-लगाम छोड़ा जाए तो ये गंभीर रूप ले लेते हैं और साइकोटिक स्तर के हो जाते हैं। ऐसे में व्यक्तित्व का विखंडन इस कदर हो जाता है कि उसका स्वयं पर नियंत्रण लगभग खतम हो जाता है और पागलखाने में भरती करने की नौबत तक आ जाती है।

वस्तुतः व्यक्तित्व के विखंडन की यह प्रक्रिया एकाएक नहीं घटित होती। सामान्य मनोविकार क्रमशः न्यूरोटिक होते हुए साइकोटिक होने की ओर बढ़ते हैं। इसी के अनुरूप व्यक्ति का व्यवहार असामान्य होता जाता है और सामाजिक जीवन पंगु होता जाता है। प्रतिभावान होते हुए भी व्यक्ति वातावरण से समायोजन करने में असक्षम होता है और अपनी प्रतिभा को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। निश्चित रूप से ऐसे समय में उसका पारिवारिक जीवन प्रभावित रहता है। ऐसे में व्यक्ति निम्न आत्मसम्मान व हीनता के भाव से ग्रसित पाया जाता है। असामाजिक एवं अपराधिक गतिविधियों में प्रायः ऐसे ही व्यक्ति संलिप्त पाए जाते हैं।

इनके उपचार को लेकर मनोचिकित्सा की पूरी विधा विकसित हुई है, लेकिन इसके प्रयास अपनी तमाम ईमानदारी के बावजूद मन की अधूरी समझ रखने के कारण समग्र समाधान से कोसों दूर हैं। मनोविकारों के कारण जैविक, वंशानुगत, पर्यावरण से संबंधित हो सकते हैं, लेकिन मुख्य रूप से बचपन की कटु स्मृतियाँ व अनुभव इनके मूल में होते हैं, जिन्हें मनोचिकित्सक मन की गहरी अचेतन परतों में खोजते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में सबसे पहले फ्रायड महोदय ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला था, जिसे उनकी सबसे बड़ी देन माना जाता है। हालाँकि महर्षि पतंजलि इसी तथ्य को हजारों वर्ष पहले और भी सूक्ष्म एवं सम्यक रूप में चित्त एवं कर्म-संस्कारों के सिद्धांतों के माध्यम से प्रतिपादित कर चुके हैं। समग्र मानसिक उपचार करने के लिए इनकी सही समझ होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मनोरोगों के उपचार के लिए मन की इस गहरी परत तक पहुँचना होगा, तभी सही उपचार संभव हो सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान मन की सतही समझ के कारण उसका सही उपचार करने में असमर्थ है। अभी भी वह फ्रायडवादी सोच के शिकंजे से मुक्त नहीं हो सका है। आश्चर्य नहीं कि आज की मनश्चिकित्सा एवं जनमानस की सोच व्यापक रूप से फ्रायडवादी सोच से प्रभावित है। यह सोच अचेतन मन को पशुवृत्तियों का अँधेरा कोना भर मानती है और मनोविकारों के उपचार के लिए इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति पर जोर देती है। पशुवृत्तियों का परिमार्जन, रूपांतरण भी हो सकता है, यह इसकी समझ से परे है।

दमित वासनाओं के शमन में इस सोच का तात्कालिक योगदान हो सकता है, लेकिन मात्र उन्मुक्त भोग, रोग का पूरा समाधान नहीं हो सकता। इसके साथ जो संस्कार पड़ते हैं वे समस्या का समाधान करने के बजाय इसे और जटिल कर देते हैं। एक ग्रंथि का उपचार करते-करते दूसरी ग्रंथि जन्म ले लेती है और एक कॉम्पलेक्स ठीक होते तक दूसरा पनप जाता है। यह कुछ वैसे ही है,

►शक्ति संरक्षण वर्ष◄

जैसे कि एलोपैथिक दवाओं के साथ एक रोग को ठीक करते-करते साइड इफैक्ट के कारण दूसरे कई रोगों का पनप जाना और रोगी का कुल मिलाकर रुग्ण ही रह जाना, बल्कि और भी गंभीर रोगों से पीड़ित हो जाना।

दमित काम की तरह दमित इच्छाएँ व भावनाएँ मनोविकार के रूप में व्यवहारिक स्तर पर फूटती रहती हैं, जो व्यक्तित्व को असंतुलित एवं असामान्य बना देती हैं। मन की समग्र समझ के बिना इनका सही उपचार संभव नहीं है। मन की प्रकृति मात्र पशुता ही नहीं है, इसका स्वरूप मानवीय एवं दैवीय भी है। मनोविज्ञान की मानवतावादी विचारधारा मनुष्य के इस उज्ज्वल स्वरूप को स्वीकार करती है। इससे आगे साइकोसिंथेसिस व ट्रांसपर्सनल जैसी मनोविज्ञान की धाराएँ मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को अहम मानती हैं, लेकिन रोगी मन को ठीक करने की प्रभावी तकनीक सुझाने में असमर्थ हैं।

यहाँ आध्यात्मिक मनोविज्ञान अपनी समग्र दृष्टि एवं अचूक उपायों के आधार पर प्रभावी हस्तक्षेप करता है। इसका स्पष्ट मत है कि दमित कामनाओं, इच्छाओं व भावनाओं का उपचार न तो इनके उन्मुक्त भोग में है और न ही इनके दमन में। दोनों ही विकृतियों को और बढ़ाने वाले हैं। इनका विवेकपूर्ण उपयोग ही उचित है, ये स्वतंत्र-समग्र उपचार नहीं हो सकते। मनोविकारों के उपचार का मर्म इनके रूपांतरण में निहित है। जैसे भौतिक ऊर्जा को नष्ट नहीं किया जा सकता, इसका रूपांतरण ही किया जा सकता है। वैसे ही मनोविकारों में निहित मानसिक ऊर्जा को नष्ट नहीं किया जा सकता। इनको सृजनात्मक दिशा देकर रूपांतरित किया जाना ही सही उपाय है।

मनोरोगों के मूल में मन की तामसिक और राजसिक प्रकृतियाँ सक्रिय रहती हैं। जितना हम तम से रज और रज से सत् की ओर बढ़ते हैं, उतना ही मनोविकारों का शमन होता जाता है। मनुष्य में दैवीय प्रकृति अभिव्यक्त होने लगती है और उसका मानसिक संतुलन सधने लगता है। अतः आध्यात्मिक उपचार के तहत तमोगुण को रजोगुण में और रजोगुण को सतोगुण में रूपांतरित किया जाता है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मन की स्थिरता इतनी हो जाती है कि विखंडित व्यक्तित्व संतुलित व्यक्तित्व में बदल जाता है और व्यक्ति का परिवेश के साथ समायोजन स्थापित हो जाता है।

मनोविकारों के शमन एवं मानसिक संतुलन की यह प्रक्रिया कुछ चरणों से होकर गुजरती है। पहले चरण में 'स्वस्थ स्व' का विकास किया जाता है। मनोरोगी प्रायः अपनी निम्न जैविक एवं मनोवैज्ञानिक प्रकृति में उलझा रहता है, जिसके चलते वह अनैतिक आचरण में लिप्त रहता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति दुर्बल रहती है और उसमें आत्मसम्मान की कमी पाई जाती है। मन-ही-मन वह हीन भावना, अपराध बोध से ग्रस्त रहता है, जो उसे चैन से रहने नहीं देते। अतः स्वस्थ स्व का विकास, इस प्रक्रिया का पहला चरण है। अपने दैवीय स्वरूप का चिंतन करते-करते व अनैतिक आचरण से मुँह मोड़ते ही वह इनसे ऊपर उठने लगता है और उसका स्वस्थ स्व विकसित होने लगता है।

अति स्वार्थ, अति महत्त्वाकांक्षा एवं अति अहंकार भी व्यक्ति को लोभ, भ्रष्टाचार, शोषण, हिंसा एवं अपराधी गतिविधियों में लिप्त करते हैं। इनसे भी वह अपना आत्मसम्मान खो बैठता है। मन की ग्रंथियाँ व्यक्तित्व को विखंडित करती जाती हैं। बाहर से बहुत होशियार, चतुर एवं दबंग बनते हुए भी व्यक्ति अंदर से बहुत ही कायर, सशंकित एवं अस्थिर मनःस्थिति लिए हुए होता है। सदाचरण का सहारा लेकर व्यक्ति इस नारकीय अवस्था से ऊपर उठ सकता है और खोए आत्मसम्मान को दोबारा पाकर एक स्वस्थ, संतुलित व्यक्तित्व का स्वामी बन सकता है।

इसके बाद दूसरा चरण प्रायश्चित विधान का है। सच्चे मन से किया गया प्रायश्चित प्रभावशाली होता है। बचपन में, अनजाने में, वातावरण एवं परिस्थितियों के दबाव के चलते कई तरह की गलतियाँ हो जाती हैं। ये ही आदतें, संस्कार बनकर व्यक्तित्व को गंभीर मनोविकारों की चपेट में ले लेती हैं। इनको त्यागकर नए जीवन की शुरुआत की जा सकती है। इसके लिए पहले आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का विकास किया जाता है।

वास्तव में जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विकास मनोविकारों के जड़-मूल से उच्छेदन को सुनिश्चित करता है। मनोविकारों की गहनतम रूप में पहचान इसी आधार पर होती है अन्यथा मात्र व्यवहारिक, बाहरी, सतही स्तर से उनकी सही पहचान नहीं हो पाती। अतः उपचार दूभर ही बना रहता है। मनोविज्ञान अपनी पूरी ईमानदारी के बावजूद इस सूक्ष्म समझ के अभाव में चूक जाता है।

इसके लिए स्वाध्याय-सत्संग बहुत ही प्रभावशाली प्रक्रियाएँ हैं। इनके आधार पर जीवन के प्रति सूक्ष्मदृष्टि का विकास होता है, जो आगे चलकर मनोविकारों का गहनतम स्तर पर परिमार्जन करने में सहायक सिद्ध होता है। इनके साथ ध्यान भी मनोरोगों के उपचार में अचूक है, लेकिन प्राथमिक अवस्था में थोड़ा कठिन होने के कारण प्रार्थना का सहारा लिया जा सकता है, जो मनोरोगों के उपचार के लिए स्वयं में रामबाण है। इसके साथ ही आध्यात्मिक जीवनशैली, सात्त्विक आहार-विहार, विचार एवं व्यवहार को अपनाते हुए एक स्वस्थ, संतुलित जीवन की नींव रखी जा सकती है।

प्राणायाम भी मनोविकारों के शमन का एक प्रभावी उपाय है, लेकिन इसे कुशल मार्गदर्शन में करना ही उचित है। इसके साथ मंत्रजप भी रोग के अनुरूप अचूक है, लेकिन यह भी मार्गदर्शन में ही प्रभावी होते हैं। इनके साथ अपनी क्षमता के अनुरूप तप का अनुपान जोड़ा जा सकता है। तप की तपन से मनोविकारों की जकड़न ढीली पड़ती है। तप का व्यवहारिक अर्थ अपने कर्त्तव्य कर्मों के लिए कष्टों को सहर्ष स्वीकार करना है। सेवा-भाव के अपनाने से तप की उष्णता शांत होती है, अहंकार गलता है। ऐसे में मनोरोगों के जड़ से उपचार एवं व्यक्तित्व के पुनर्गठन की प्रक्रिया संपन्न होती है। ❑

एक बार काकभुशुंडि जी के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि क्या संसार में ऐसा भी कोई दीर्घजीवी व्यक्ति है, जो विद्वान तो हो, पर उसे आत्मज्ञान न हुआ हो। इस बात का पता लगाने के लिए वे महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा लेकर विश्वभ्रमण पर निकल पड़े। उन्होंने गाँव ढूँढ़े, शहर ढूँढ़े और कंदराओं की खाक छानी, तब जाकर उनकी मुलाकात विद्याधर नामक ब्राह्मण से हुई। विद्याधर की आयु चार कल्प थी और उसने वेद-शास्त्रों का परिपूर्ण अध्ययन किया था। शास्त्रों के श्लोक उसे कंठस्थ थे और किसी भी शास्त्र संबंधी जिज्ञासा का वह तुरंत समाधान कर दिया करता था। काकभुशुंडि जी को उससे मिलकर प्रसन्नता तो हुई, किंतु उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना विद्वान होने पर भी विद्याधर आत्मज्ञानी क्यों न बन सका?

अपने प्रश्न का उत्तर जानने के लिए काकभुशुंडि जी चुपचाप विद्याधर के पीछे-पीछे घूमने लगे, ताकि सत्य का पता लगा सकें। एक दिन उन्होंने देखा कि विद्याधर नीलगिरि पर्वत पर वनविहार का आनंद ले रहा था, तभी उसे कण्वद राज्य की राजकन्या आती दिखाई पड़ी। उसके सौंदर्य में विमोहित होकर विद्याधर प्रकृति के आनंद को भूलकर उसके पीछे ऐसे घूमने लगा, जैसे मणिहीन सर्प। उस समय उसे न तो शास्त्र का ज्ञान रहा, न पुराण का। राजकन्या की उपेक्षा से भी उसका मन नहीं चेता। वह उसके पीछे चलता गया तो राजसैनिकों ने उसे विक्षिप्त समझकर बंदीगृह में डाल दिया। बंदीगृह में काकभुशुंडि जी ने स्वयं को उसके सम्मुख प्रकट किया और बोले— ''विद्याधर! तुम इतने विद्वान होते हुए भी यह न समझ सके कि आसक्ति ही आत्मज्ञान का बंधन है। इसी आसक्ति के कारण आज तुम्हारी यह दुर्दशा हो रही है।'' यह सुनकर विद्याधर के नेत्र खुल गए और वह आत्मज्ञान के पथ पर बढ़ चला।

यौगिक अभ्यासों का दृष्टिहीन विद्यार्थियों पर प्रभाव

दिव्यांगता को कुछ लोग अभिशाप के समान मानते हैं। व्यक्ति का कोई अंग कमजोर या अपाहिज हो जाए तो उसके लिए इस समाज में जीवन बिताना कठिन हो जाता है। जो बच्चे दिव्यांग होते हैं, उनके प्रति समाज का दृष्टिकोण बदल जाता है, फलस्वरूप ऐसे बच्चे हीन भावना का शिकार हो जाते हैं और उन्हें मानसिक, भावनात्मक एवं सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) की रिपोर्ट के अनुसार दिव्यांगों में भी दृष्टिहीनों की संख्या सबसे ज्यादा है। दृष्टिहीन की श्रेणी में वे सभी व्यक्ति आते हैं, जो देखने की अक्षमता के कारण इस दिव्यांगता से ग्रस्त हैं। दृष्टिहीनों की अनेकों मानसिक समस्याएँ होती हैं और इनमें नकारात्मकता सर्वाधिक पाई जाती है। नकारात्मक सोच होने के कारण उनका शैक्षिक, सामाजिक एवं मानसिक विकास प्रभावित होता है।

दृष्टिहीन दिव्यांगों की समस्याओं एवं उनके समाधान को लेकर देव संस्कृति विश्वविद्यालय के योग एवं स्वास्थ्य विभाग के अंतर्गत सन् 2016 में एक महत्त्वपूर्ण शोधकार्य संपन्न किया गया है। यह कार्य शोधार्थी केवलराम चक्रधारी द्वारा श्रद्धेय कुलाधिपति डॉ० प्रणव पण्ड्या के विशेष संरक्षण एवं डॉ० विजय कुमार सिंह के निर्देशन में पूरा किया गया है। इस शोध अध्ययन का विषय है—**यौगिक अभ्यासों का दृष्टिहीन विद्यार्थियों की मनोशैक्षिक क्षमताओं पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन।**

शोधार्थी द्वारा इस प्रयोगात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन को पूरा करने के लिए उद्देश्यपूर्ण प्रतिचयन विधि द्वारा दृष्टि एवं श्रवण बाधित विद्यालय रायपुर (छत्तीसगढ़) के छात्रावास में रहने वाले 14 से 17 वर्ष की आयु वर्ग के 100 दृष्टिहीन विद्यार्थियों का चयन किया गया। अध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व चयनित सभी विद्यार्थियों का विभिन्न उपकरणों द्वारा परीक्षण किया गया। अध्ययन में जो उपकरण प्रयुक्त किए गए वे निम्नांकित थे—ए० के० पी० सिन्हा एवं आर० पी० सिंह (1984) द्वारा निर्मित एडजस्टमेन्ट इन्वेन्ट्री फॉर स्कूल स्टूडेंट, ए० के० सिंह एवं श्रुति नरेन (2005) द्वारा निर्मित इमोशनल इन्टेलीजेन्स स्केल, टी० आर० शर्मा (2005) द्वारा निर्मित एकेडेमिक एचिवमेंट मोटिवेशन टेस्ट एवं परीक्षा से प्राप्त प्राप्तांकों का शैक्षिक उपलब्धि मापन में प्रयोग किया गया।

उक्त उपकरणों द्वारा प्रारंभिक परीक्षण के उपरांत शोधार्थी द्वारा सप्ताह में 5 दिन, 4 माह की अवधि तक प्रयोगात्मक समूह को योगाभ्यास कराया गया। योगाभ्यास के अंतर्गत प्रज्ञायोग व्यायाम 15 मिनट, नाड़ीशोधन प्राणायाम 10 मिनट, प्रणव जप 10 मिनट एवं नादयोग साधना 15 मिनट, इस तरह कुल 50 मिनट की यौगिक क्रियाएँ प्रयोग के दौरान कराई जाती रहीं। प्रयोग की अवधि समाप्त होने पर पूर्व परीक्षण की ही भाँति पुनर्परीक्षण किया गया एवं दोनों परीक्षणों से प्राप्त आँकड़ों का संग्रहण कर उनका सांख्यिकीय विश्लेषण करने पर शोधार्थी ने अपने शोध परिणाम में यह पाया कि चयनित यौगिक क्रियाओं का दृष्टिबाधित बच्चों की समायोजन क्षमता, भावनात्मक बुद्धिमत्ता, उपलब्धि अभिप्रेरण एवं शैक्षिक उपलब्धि पर सार्थक एवं सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

अध्ययन के परिणामों में शोधार्थी को जो सार्थक परिणाम प्राप्त हुए, उनके पीछे मुख्य कारण शोधार्थी द्वारा अपनाया गया यौगिक अभ्यास है। इस यौगिक अभ्यास में योग की विशिष्ट प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं, जिनके वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अलग-अलग महत्त्व हैं। इस शोध में जो यौगिक क्रियाएँ अपनाई गईं, उनमें प्रथम है—प्रज्ञायोग व्यायाम। परमपूज्य गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित प्रज्ञायोग व्यायाम क्रमबद्ध रूप से करने वाले 16 योगासनों का एक समूह है। 16 आसनों के योग से प्रज्ञायोग व्यायाम का एक चक्र पूरा होता है। प्रत्येक आसन के साथ एक-एक मंत्र का उच्चारण किया जाता है। इस व्यायाम से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होते हैं। इस व्यायाम के प्रत्येक आसन का शरीर में स्थित अंतःस्रावी ग्रंथियों के साथ सूक्ष्म शक्ति-केंद्रों, चक्रों, उपत्यिकाओं पर भी प्रभाव पड़ता है व साथ ही आसनों के साथ उच्चारण किए जाने वाले गायत्री मंत्र

के अक्षर मानसिक क्षमताओं को विकसित करने में विशेष रूप से सहायक होते हैं। इस शोध अध्ययन में प्रज्ञायोग के सभी आसनों के अलग-अलग लाभों की विवेचना की गई है।

द्वितीय यौगिक प्रक्रिया है—नाड़ीशोधन प्राणायाम। यह एक ऐसा यौगिक अभ्यास है, जिससे प्राण-प्रवाह के मार्ग को शुद्ध किया जाता है। यह शरीर एवं मन में संतुलन पैदा करने वाला प्राणायाम है। शरीरशास्त्रियों के अनुसार शारीरिक नाड़ी संस्थान में जब गड़बड़ी उत्पन्न होती है तो रक्त संचार में बाधा पहुँचती है, जिससे विषाक्तता बढ़ती है, जो अनेक प्रकार की रोग-व्याधियाँ उत्पन्न करती है। नाड़ीशोधन प्राणायाम, नाड़ीशुद्धि द्वारा शारीरिक एवं आंतरिक विषाक्तता को दूर कर शरीर में नई प्राण-ऊर्जा को संचारित करता है।

इस संदर्भ में हुए विभिन्न शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि प्राणायाम ही एकमात्र ऐसा विकल्प है, जो न्यूरोट्रांसमीटर के स्राव को नियमित एवं नियंत्रित कर सकता है और साथ ही स्नायुओं को पुष्ट और सबल बना सकता है। प्राणायाम से शरीर में ऑक्सीजन की आपूर्ति बेहतर होती है, जिससे रक्त शुद्ध होता है और रक्त-प्रवाह भी सही होता है। इस कारण मस्तिष्क को भी उचित मात्रा में शुद्ध रक्त की आपूर्ति होती है एवं मस्तिष्क की कोशिकाओं को अधिक ऊर्जा मिलती है, जिससे व्यक्ति को मानसिक शांति एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। यही मानसिक शांति एवं स्फूर्ति उसकी कार्यक्षमता को बढ़ाकर उसके उत्साह और आत्मविश्वास में वृद्धि लाती हैं।

यौगिक अभ्यास की तीसरी प्रक्रिया है—प्रणव जप। इससे आंतरिक शिथिलता दूर होती है। यह मानसिक शांति का सर्वोत्कृष्ट साधन माना गया है। इसके अभ्यास से विषाद, अवसाद, तनाव आदि दूर होते हैं। 'ॐ' उच्चारण का शरीर एवं मन, दोनों पर अत्यंत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रणव जप करने से शारीरिक दुर्बलता एवं रोग दूर होते हैं एवं शारीरिक ग्रंथियों का पोषण होता है तथा उनसे स्राव भी समुचित मात्रा में होने लगता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह शरीर में विद्यमान सुप्त आंतरिक शक्तियों को जाग्रत करता है। इस अध्ययन में प्रणव जप के अनेक शारीरिक एवं मानसिक लाभों की विवेचना की गई है।

इस शोधकार्य में प्रयुक्त की गई चौथी यौगिक प्रक्रिया है—नादयोग-साधना। अध्ययन में परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित नादयोग-साधना का उपयोग किया गया है। यह बाँसुरी और डमरू की धुन पर आधृत ध्यान-साधना है। यह चिंता, तनाव, अवसाद आदि को दूर कर मानसिक शांति प्रदान करने वाला अभ्यास है। नाद संगीत की स्वरलहरियाँ मनुष्य के मस्तिष्क, हृदय एवं स्नायुतंत्र पर आश्चर्यजनक प्रभाव डालती हैं। यह प्रसुप्त-निष्क्रिय मांसपेशियों को जाग्रत व सक्रिय करती है व दुर्भावनाओं को मिटाकर शांति का वातावरण प्रदान करती है। चिंता, तनाव के साथ-साथ समग्र तंत्र को प्रभावित और संतुलित करने में इसके महत्त्व को समझा जाने लगा है। नादयोग-साधना स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा एवं रोग निवारक विधि है।

यह शोध अध्ययन दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की समायोजन क्षमता, शैक्षिक उपलब्धि, भावनात्मक बुद्धिमत्ता एवं उपलब्धि अभिप्रेरण से संबंधित यौगिक क्रियाओं को लेकर किया गया है, परंतु इसमें अपनाई गई यौगिक प्रक्रिया न केवल दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के लिए अपितु सभी विद्यार्थियों, जनसामान्यों व संबंधित रोगियों के लिए कारगर उपाय के रूप में सामने आती है। यह अध्ययन विद्यार्थी जीवन में योग के महत्त्व को उजागर करता है एवं योग चिकित्सा के क्षेत्र में एक नया आयाम प्रस्तुत करता है। ❑

शालीनता, अंतरात्मा के गहन स्तर तक प्रवेश कर जाती है व जन्म-जन्मांतरों तक साथ जाती है। पुण्यात्मा का भविष्य अंधकारमय नहीं बन सकता, उसे दुर्गति वाली परिस्थितियों में नहीं गिरना पड़ता। मनुष्य जीवन की सार्थकता ऐसी विद्या अपनाने में ही है। आवश्यकता नहीं कि उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए बड़े जप-तप किए जाएँ। सज्जनता भरा जीवनयापन करना भी एक योग-साधन है, जो सबके लिए सरल भी है और सुलभ भी। *—परमपूज्य गुरुदेव*

संवेदना के जागरण से बनते हैं सच्चे शासक
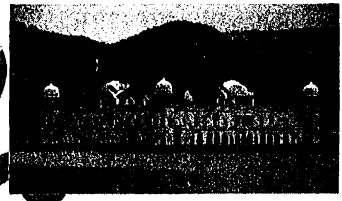
महासागर के मध्य एक अद्‌भुत द्वीप स्थित था। चारों ओर जलराशि से घिरा, प्राकृतिक मनोरम स्थलों व अत्याधुनिक संसाधनों से सुसज्जित यह वैभवशाली द्वीप चक्रवर्ती सम्राट परंजय व उनके परिवार का निवास स्थल था। उसे पहली बार देखने के लिए आने वाले अपने अनुभव साझा करते इतना तक कह उठते कि यह स्वर्ग सदृश्य है।

सम्राट का रहन-सहन पूर्णरूपेण राजसिक था व अपने ठाठ-बाट में वे कोई कमी भी न रख छोड़ते थे। उनके राज्य की सीमाओं का विस्तार अनंत था, किंतु अपने अधीन इन सभी राज्यों का संचालन वे अपनी समर्थ कार्यशैली व धर्मपत्नी राजरानी एनाक्षी के कुशल प्रबंधन द्वारा इसी द्वीप स्थित अपने निवासस्थल से संपन्न किया करते थे। महाराज व महारानी, दोनों के संबंधों में शासकीय व्यवहार अधिक दृष्टिगोचर होता था, जो इन्हें शासनतंत्र के सुसंचालन में प्रवीण तो बनाता था, परंतु अपने पारिवारिक भावों के प्रति उपेक्षित भी कर देता था।

शासन को प्राथमिकता पर रख विनिर्मित विधि-व्यवस्था मात्र संपन्नों व शासकों के प्रति कृपालु थी। गरीबों को तो कष्ट ही उठाना पड़ता था। द्वीप स्थित अपने निजी निवासस्थल को छोड़ शेष सभी अधीन राज्यों की स्थिति लगभग एक ही समान थी। वहाँ प्रजा में असमानता को स्पष्ट देखा जा सकता था। स्वर्ग और नरक के एक ही स्थान पर उपस्थित होने की छवि यहाँ साक्षात् मौजूद थी। एक ओर वैभव, संपन्नता, विलास एवं सुख के नाना अंबार दीख पड़ते तो वहीं दूसरी ओर दुःख, कष्ट, संसाधनहीन अवस्था की नारकीय यंत्रणा सहते सैकड़ों की संख्या में उपेक्षितों की भीड़ भी कम न थी।

सम्राट परंजय के शासनकाल में ऐसी असमानता उनकी योग्यता एवं कुशलता पर प्रश्नचिह्न अवश्य लगाती, किंतु वे इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा यही कहते हुए करते कि ये अपनी जड़ता को विवशता का बहाना बनाकर बैठे हैं तथा इनकी स्थिति के लिए ये स्वयं जिम्मेदार हैं।

संसार की माया भी विलक्षण होती है—यह देखने योग्य को देखने नहीं देती व वहीं ऐसा कुछ दिखाती है, जिससे कि इसका अपना व्यापार चल सके। यह बात इस साम्राज्य के भूतपूर्व सम्राट कर्मवीर भली भाँति समझते थे, किंतु अपने पुत्र के स्वभाव में गहरी बैठ चुकी मान्यताओं के समक्ष वास्तविकता को उद्‌घाटित करने में हिचकते थे। अपने पुत्र के इस क्षणिक वैभव-विलास के परिणाम में मिलने वाले शारीरिक कष्टों व मानसिक संतापों के साक्षी वृद्ध कर्मवीर भावी आशंकाओं को लेकर चिंतित इसलिए भी थे कि यदि जाग्रति के पल उनके पुत्र परंजय के जीवन में देर से आए तब तो उसे सँभलने का अवसर ही न मिल सकेगा।

सम्यक विचार-विश्लेषण से उन्होंने पाया कि सामयिक कष्टकारी परिस्थितियों हेतु वे स्वयं ही जिम्मेदार हैं। पुत्र के समान अपनी युवावस्था में उन्होंने भी सत्ता को पाने एवं बढ़ाने की मदांध दौड़ लगाई थी, जिसके परिणाम में वैसे ही संस्कार उनके पुत्र को मिले। उन्होंने पाया कि कर्म का प्रथम पाठ तो उन्होंने अपने पुत्र को अवश्य सिखाया, जिसकी दक्षता पुत्र ने अर्जित संपन्नता से दिखलाई, किंतु इसके आगे न वे जानते थे और न ही वे उसे सिखा सके थे। अब वे मन में इतना ही सोचते थे कि जो संस्कार पुत्र को न दे सका, काश वे संस्कार अपने पौत्र-पोतियों को दे सकूँ।

उन्हीं दिनों महारानी एनाक्षी ने ऋषभ नामक पुत्र को जन्म दिया। पौत्ररत्न की प्राप्ति की इस सूचना ने वृद्ध कर्मवीर के हृदय में पावस की आशारूपी बूँदें अभिसिंचित कर नवीन प्राणों का संचार कर दिया। वे इस सूचना से इतने प्रसन्न थे मानो ईश्वर ने उनकी अंतर्वेदना को ताड़, प्रायश्चित हेतु किसी अवसर को ला भेजा हो। अपनी राजकीय व्यस्तता में उलझे माता-पिता, दोनों ही अपने इस पुत्र को कोई समय न दे पाते तो वहीं वृद्ध कर्मवीर अपनी सुसंगति में इस बालक हेतु यथोचित संस्कारों के शिक्षण की व्यवस्था बनाने में कोई कसर न छोड़ते और अपने पुत्र परंजय के शिक्षण में रही भूल-चूक को स्मरण कर इन सभी का निराकरण करते चले जाते थे।

समय बीतता गया। राजकुमार ऋषभ अब चौदह वर्ष के होने को आए। उनका अनुभव कम था, किंतु समझ विलक्षण स्तर की थी। राजकुमार ऋषभ के शिक्षण का क्रम राजकीय आचार्यों द्वारा विधिपूर्वक संपन्न हुआ करता था। बीच-बीच में कभी-कभी महाराज परंजय भी स्वयं प्रगति अवलोकन के उद्देश्य से कुछ हस्तक्षेप किया करते, किंतु बालक की अपने मनोरथों से विरुद्ध प्रगति को देख क्रुद्ध हो आचार्यों को खरी-खोटी भी सुना दिया करते थे। गुप्तसूत्रों से जब इस प्रकार के शिक्षण को प्रदान करने वाले के बारे में पता लगाया गया तो आचार्यों ने कहा कि वे तो युवराज को वही शिक्षण देते हैं, जो राजा चाहते हैं, पर उन्हें दूसरी शिक्षाएँ, भूतपूर्व सम्राट से मिला करती हैं।

यह सूचना मिलने पर राजा परंजय के क्रोध का पारावार न रहा और वे तुरंत ही पिता कर्मवीर से मिलने उनके आवास की ओर निकल पड़े। मद का भी अंधापन ऐसा होता है कि अपनों के द्वारा किए जा रहे नेक कार्यों पर ही प्रश्नचिह्न लगा देता है। कर्मवीर का उद्देश्य तो युवराज को सुसंस्कारित बनाना ही था, परंतु राजा परंजय ने उसको इस तरह से महसूस किया, जैसे उनके साथ विश्वासघात किया जा रहा हो।

अपने पिता के पास पहुँचकर उन्होंने अपने मनोभावों को व्यक्त किया। उनके कहने के तरीके में आक्रोश भी था और दंभ का भाव भी। कर्मवीर अपने पुत्र के इन वचनों को स्वप्रदत्त संस्कार समझकर चुपचाप सुनते रहे। जब राजा परंजय ने ऐसी बहुत-सी बातें कह लीं, जो उन्हें नहीं कहनी चाहिए थीं, तब कर्मवीर ने उनको संबोधित करते हुए पूछा—''पुत्र! तुम एक विशाल राज्य के कुशल प्रशासक हो। विद्याध्ययन भी तुमने पर्याप्त किया है। तुम्हारी दृष्टि में राजा का मूल कर्त्तव्य क्या है?'' ''प्रजापालन।''—बिना क्षण गँवाए परंजय ने कहा। ''क्या तुमने कभी अपने राजनिवास से बाहर निकलकर प्रजा से यह जानने की कोशिश की है कि वह किस स्थिति में है?'' इस प्रश्न का कोई उत्तर राजा परंजय के पास न था।

उन्हें चुप देख कर्मवीर बोले—''यदि तुम वेश बदल कर मेरे साथ राज्यभ्रमण पर चल सको तो जान सकोगे कि मैं राजकुमार को यह शिक्षण क्यों दे रहा हूँ।'' राजा परंजय पिता कर्मवीर के साथ राज्यभ्रमण को निकले। वे जहाँ-जहाँ भी गए, वहाँ उन्हें पीड़ित प्रजा के मुँह से राजा एवं शासन के लिए कटु शब्द ही सुनने को मिले। राजा परंजय ने महसूस किया कि राज्य में जो घट रहा था, वह उनकी उम्मीदों के विपरीत था। वे महसूस कर पा रहे थे कि राज्य की सीमाओं में वृद्धि का अर्थ यह नहीं होता कि प्रजा में सभी सुखी हो गए हों। वैभव के साथ-साथ प्रजा की कुशलता भी जरूरी है और ऐसा कर पाना मात्र संवेदना के जागरण से संभव है।

अपनी भूल को महसूस करते हुए उन्होंने पिता कर्मवीर से अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। साथ ही कृतज्ञता भी अर्पित की कि यदि उन्होंने समय रहते सही संस्कार राजकुमार को देने का प्रयत्न न किया होता तो वह भी एक गलत मार्ग पर चल बैठता। राजा परंजय के साथ-साथ रानी एनाक्षी के व्यवहार में आया परिवर्तन धीरे-धीरे प्रजा के प्रत्येक नागरिक ने अनुभव करना आरंभ कर दिया। दुःखी प्रजा धीरे-धीरे सुखी होने लगी और प्रशासन में आए सकारात्मक बदलाव की प्रशंसा करने लगी। कर्मवीर ने राजकुमार को सुसंस्कार देने के साथ-साथ पूरा राज्य ही बदल दिया था। ❑

एक संत तुकाराम को खोजते हुए उनकी दुकान पर पहुँचे। उन्होंने देखा कि तुकाराम अपने कारोबार में व्यस्त हैं। वह संत बहुत देर वहीं बैठकर उन्हें देखते रहे। देर हो जाने पर वे संत तुकाराम से बोले—''आपको सब संत मानते हैं, परंतु आप तो दिन भर कारोबार ही करते रहे, प्रभुभजन तो किया नहीं। मैं तो आपके पास ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से आया था।'' इस पर तुकाराम बोले—''मेरे लिए मेरा काम ही मेरी पूजा है। मैं जब-जब सामान तौलता हूँ और तराजू की डंडी संतुलन की स्थिति में होती है, तब-तब अपने मन से पूछता हूँ कि वह भी ऐसा स्थिर है या नहीं?'' यह सुनकर उन संत ने तुकाराम के चरण पकड़ लिए और बोले—''आज आपने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।''

रोजगार के अवसर बढ़ाए ऐसी शिक्षा की है जरूरत

इन दिनों हमारी शिक्षा प्रणाली कई कमियों के दौर से गुजर रही है। यही कारण है कि हमारे देश में बेरोजगार युवाओं की बाढ़-सी आ गई है। हमारी माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्रणाली को कुछ ऐसी गलत दिशा दे दी गई है कि इसमें शिल्प की महत्ता खो गई है और रट्टूपन की महत्ता बढ़ गई है। यहाँ तक कि विश्वविद्यालयी शिक्षा को भी समाज की जरूरतों से नहीं जोड़ा गया है, इसलिए इस शिक्षा प्रणाली का भी पराभव हुआ है।

विगत दिनों दिल्ली के एक विश्वविद्यालय में मुंबई की एक बड़ी कंपनी आई, जिसे पढ़े-लिखे युवाओं की भरती करनी थी। विश्वविद्यालय ने अच्छे नंबर वाले ग्यारह सौ युवाओं की सूची दी, पर सबके साक्षात्कार के बाद कंपनी ने सिर्फ तीन युवाओं को ही योग्य पाया। बाकी के लिए उसने कहा कि इनके नंबर बहुत अच्छे हैं, लेकिन इनके पास न तो कोई कौशल है, न संचारकुशलता यानी कम्युनिकेशन स्किल, न ही इन्फॉरमेशन टेक्नोलॉजी और न ही सामान्य गणितीय हिसाब करने की क्षमता। देश की राजधानी के विश्वविद्यालय का यह हाल है तो अन्य बाकी की क्या स्थिति होगी—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

हमारी जो शिक्षा है, देखा जाए तो उसने एक तरह से रट्टूवीर पैदा किए हैं। उसने नई तकनीकी क्षमता में कुशल और संचारकुशल छात्र नहीं बनाए। 'पंद्रह दिन में अँगरेजी सीखें' और 'दो महीने में कंप्यूटर डिप्लोमा लें', ऐसे कोर्स तो बहुत चल रहे हैं, लेकिन इन कोर्सों को करने वाले विद्यार्थियों को न तो सही ढंग से अँगरेजी आई और न ही हिंदी। इनकी न तो संचार क्षमता बढ़ पाई और न ही कंप्यूटर चलाने की क्षमता; जबकि आज के युग में दोनों ही का अपना महत्त्व है।

विगत दिनों प्रशासन ने तीन सकारों पर जोर दिया है—स्केल, स्किल और स्पीड यानी मात्रा, कौशल और तीव्रगति। कौशल प्रदान करने वाली शिक्षा के बारे में उसका कहना है कि हम कुशलता का निर्यात कर एक बार फिर दुनिया के गुरु बन सकते हैं। जबकि वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य मात्र विद्यार्थियों को डिग्री प्रदान करना है और अधिक अंक लाने वाले छात्रों को प्रोत्साहित करना है। वर्तमान शिक्षा के माध्यम से उन विद्यार्थियों का चयन व प्रोत्साहन संभव नहीं है, जो किसी विशेष क्षेत्र में प्रतिभावान हैं और अपनी प्रतिभा को विकसित कर अपने जीवन में कुछ विशेष कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं।

गौर किया जाए तो व्यक्ति की बाल्यावस्था, किशोरावस्था व युवावस्था को मिलाकर उसके जीवन के 19-20 वर्ष शिक्षा-अर्जन में लग जाते हैं। इन वर्षों में वह क्रमशः प्राथमिक, माध्यमिक, स्नातक व परास्नातक कक्षाओं को उत्तीर्ण करते हुए किसी दिशा में स्वयं को लगाने का प्रयास करता है, नौकरी तलाशता है। जिंदगी के 19-20 वर्ष वह ज्ञानार्जन में नहीं, अपितु नंबर पाने की एक प्रतियोगिता में लगाता है। जो विद्यार्थी वास्तव में ज्ञानार्जन में लगे रहते हैं, वो नंबरों की दौड़ में पिछड़ जाते हैं और जो विद्यार्थी अपने मन की सुनते हुए किसी विशेष क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को विकसित करने का प्रयास करते हैं, उन्हें सहयोग के बजाय प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है।

आज हमारे देश में आईआईटी महान हो गए हैं, लेकिन आईटीआई तुच्छ समझे जाते हैं। विद्युत का काम करने वाले तुच्छ हो गए हैं और विद्युत के सिद्धांत पर बहस करने वाले विशेषज्ञ हो गए हैं। कारीगर जो कुशल हैं, वो हीन स्तर की श्रेणी में हैं; जबकि ऑटोमेशन को महत्त्व दिया जा रहा है। वर्तमान में एफडीआई, वित्तीय पूँजी और ग्लोबल उपभोक्ता बाजार की खुली वृत्ति ने हमारे बाजारों को विदेशी चीजों से लबालब भर दिया है, जिन पर गर्व से यह लिखा होता है—'अनटज्ड बाई ह्यूमन हैंड्स'।

यह सोचने का विषय है कि जिस दिन 'अनटज्ड बाई ह्यूमन हैंड्स' के लिए हम मुँहमाँगी कीमत देने लगेंगे, उसी दिन यह समझिए कि हमारे हाथ भी कट गए। हम हस्तशिल्पहीन हो गए, हस्तकौशल महत्त्वहीन

हो गया और लोगों का मन इस ओर से हट गया। हस्तकौशल की इतनी उपेक्षा होने का ही यह परिणाम है कि आज देश में बेरोजगारी शिखर पर है। देश में कभी ऐसी भी स्थिति थी, जब लोग रोजगार ढूँढ़ने के बजाय अपने आर्थिक अर्जन के अन्य विकल्प तलाश लेते थे; जबकि वर्तमान में नौकरी को ही महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है और उसके लिए लोग कई-कई साल प्रयास करते रहते हैं और अपना समय गँवाते रहते हैं।

वर्तमान समय के युवा अँगरेजी पढ़कर कॉल सेंटर में तो काम कर लेते हैं, लेकिन वो अन्य कार्यों में पिछड़ गए हैं। वर्तमान समय में न जाने कितने कारीगर, कितने शिल्पी जो अपने हुनर की वजह से उत्पादकता बढ़ाते रहे हैं, हुनर को हीन देखकर किनारे हो गए। हर गाँव, कस्बे, शहर, महानगर में बीस-पच्चीस साल पहले तक पुराने शिल्पी, कारीगर जैसे—कपड़ा सिलने वाले दर्जी, जूते गाँठने वाले, पंक्चर लगाने वाले, मिट्टी के खिलौने बनाने वाले, कपड़ों पर चिकनकारी करने वाले लोगों को महत्त्व दिया जाता था, लेकिन आज उनका महत्त्व कम हो गया है।

स्थिति तो यह है कि लोग आज सूई की नोंक में धागा पिरोना तक भूलते जा रहे हैं, आज कमीज का बटन यदि टूट गया तो लोगों के पास उसे फिर से लगाने का समय नहीं है और न ही उन्हें इसे ठीक ढंग से लगाना आता है। कमीज यदि फट गई है तो उसे घर पर न सिल सकने के बजाय नई खरीदने को प्राथमिकता दी जाती है और जूते यदि फट गए हैं तो उसकी मरम्मत न कराने के बजाय लोग नए जूते खरीद लेते हैं; क्योंकि जूता गाँठने वाले लोग ही अब बड़ी मुश्किल से दिखते हैं। ऐसा इसलिए; क्योंकि उन्हें अब गली के नुक्कड़ पर बैठकर काम करने नहीं दिया जाता।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान शिक्षा की छाँह तले आज के लोग अपने हाथ का हुनर ही भूलते जा रहे हैं; जबकि इस समाज में सदियों से हस्तशिल्प ने अर्थव्यवस्था सँभाल रखी थी। हर कस्बा और हर गाँव का युवा अब या तो दोयम दरजे का मैनेजमेंट कोर्स करता है या इंजीनियरिंग करता है या बी०ए०-एम०ए०, या बी०एस-सी०-एम०एस-सी० करता है, जो उसे हाथ के हुनर से और दूर करते हैं।

देश के युवाओं को यदि बेरोजगारी से बचाना है तो हस्तशिल्प को, कौशल को बढ़ावा देना होगा। जरूरी शिक्षा-अर्जन के साथ-साथ युवाओं में उनकी प्रतिभा को विकसित करने वाली शिक्षा को भी जोड़ना होगा, ताकि वे अपने भावी जीवन के लिए नए रास्ते खोज सकें। हर किसी को नौकरी आसानी से मिले, यह जरूरी नहीं, लेकिन हर कोई अपनी मरजी के अनुसार आर्थिक स्वावलंबन की राह चुन सके, यह जरूर संभव है।

वर्तमान में युगतीर्थ शांतिकुंज में भी युगशिल्पी सत्र के माध्यम से हस्तशिल्प प्रशिक्षण को बढ़ावा दिया जा रहा है और देव संस्कृति विश्वविद्यालय में ग्राम प्रबंधन, समग्र स्वास्थ्य प्रबंधन, हथकरघा उद्योग, कागज उद्योग आदि के माध्यम से श्रम व शिल्प को महत्त्व दिया जा रहा है। इसी परंपरा को भारत के कोने-कोने में स्थापित करने की जरूरत है।

❑

ऋषि माण्डव्य के आश्रम में कुछ डाकू चोरी का माल चुपके से रख गए। वह सामान पकड़ा गया तो दंडनायक ने ऋषि को भी सजा सुना दी। अन्य ऋषि एकत्रित होकर राजा से मिले और उनकी निर्दोषता से उनको परिचित कराया। राजा ने तत्काल उनका दंड रुकवाया। तब तक जितना दंड उनको दिया जा चुका था, उसके लिए राजा ने उनसे क्षमा माँगी। ऋषि माण्डव्य बोले—"पूर्वजन्म में मैंने अनेक पशु-पक्षियों को सताया था। उसके फलस्वरूप मुझे अत्यंत कठिन यातनाओं के साथ मरना था, परंतु मेरी इस जन्म की तपस्या ने उन कष्टों को घटा दिया। यह जो कष्ट मिला, यह मेरे ही पूर्वकृत् अशुभ कर्मों का ही प्रतिफल था। इसमें अन्य किसी का दोष नहीं।"

निस्पृहता, निर्लिप्तता है गुणातीत महापुरुषों की पहचान
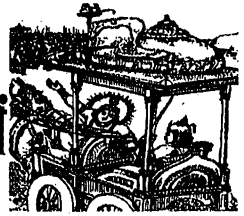
(श्रीमद्भगवद्गीता के गुणत्रयविभाग योग नामक चतुर्दश अध्याय की ग्यारहवीं किस्त)

[इससे पूर्व की किस्त में श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्दश अध्याय के उन्नीसवें एवं बीसवें श्लोकों की विवेचना प्रस्तुत की गई थी। चतुर्दश अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में श्रीभगवान, अर्जुन से कहते हैं कि जब विवेकशील मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्त्ता के रूप में नहीं देखता है और स्वयं को गुणों से परे अनुभव करता है तब वह उनके सत्स्वरूप को प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य द्रष्टा बन जाता है और इस सत्य की अनुभूति करता है कि यहाँ गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और उसकी उनके साथ असंगता है, तब उस समय वह परमात्मा के त्रिगुणातीत, सच्चिदानंदघनस्वरूप को तत्त्वतः जानते हुए भगवान के सत्यस्वरूप को प्राप्त होता है। इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को यह ज्ञान प्रदान करते हैं कि मनुष्य के जीवन में दुःख, जन्म-मरण के चक्र में पड़ने से आते हैं। जन्म-मरण के चक्र में पड़ने का मूल कारण कर्म संस्कारों का एकत्रित होना है और उनका इकट्ठा होना, कर्त्तापन के भाव के कारण है। जैसे ही, हम कर्त्तापन के भाव से मुक्त होकर साक्षीभाव से इस सृष्टि के क्रियाकलापों को देखते हैं; वैसे ही, उस निरासक्ति के भाव में हम अपने मूल स्वरूप के निकट होने लगते हैं। ज्यों-ज्यों हम अपने या यों कहें कि परमात्मा के मूल स्वरूप के निकट होने लगते हैं, इस बात को गहराई से जान व मान लेते हैं कि हम कर्त्ता नहीं, यंत्र मात्र हैं—ऐसा होते ही, हम परम पुरुष को, परमेश्वर को प्राप्त हो जाते हैं।

इतना कहने के बाद इससे अगले अर्थात चतुर्दश अध्याय के बीसवें श्लोक में श्रीभगवान अर्जुन से कहते हैं कि विवेकी मनुष्य, देहधारी देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करते हुए जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूपी दुःखों से रहित होकर अमरता को अनुभव करता है। यहाँ अमरता का अर्थ, शरीर की नहीं, आत्मा की अमरता से है। जिस मनुष्य के भीतर अकर्त्ता का, साक्षी का, त्रिगुणातीत का भाव उत्पन्न हो जाए, फिर उसे थामने की सामर्थ्य भला किस शारीरिक विकार में है? ऐसा मनुष्य एक स्वतःसिद्ध अमरता को प्राप्त कर लेता है। वह फिर शरीरजन्य सभी अवस्थाओं से पार व परे चला जाता है; क्योंकि वह त्रिगुणातीत बन जाता है, भावातीत बन जाता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस भावातीत अवस्था को उपलब्ध हो जाना ही मुक्ति है।]

श्रीभगवान के ऐसा कहने पर अर्जुन उनसे अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पूछते हैं कि—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ *21*॥

शब्दविग्रह—कैः, लिङ्गैः, त्रीन्, गुणान्, एतान्, अतीतः, भवति, प्रभो, किमाचारः, कथम्, च, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते।

शब्दार्थ—इन (**एतान्**), तीनों (**त्रीन्**), गुणों से (**गुणान्**), अतीत पुरुष (**अतीतः**), किन-किन (**कैः**), लक्षणों से (युक्त)(**लिङ्गैः**), होता है (**भवति**), और (**च**), किस प्रकार के आचरणों वाला (**किमाचारः**), होता है; (तथा)(**भवति**), हे प्रभो! (मनुष्य)(**प्रभो**), किस उपाय से (**कथम्**), इन (**एतान्**), तीनों (**त्रीन्**), गुणों से (**गुणान्**), अतीत होता है (**अतिवर्तते**)।

अर्थात अर्जुन बोले—हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणों से युक्त होता है? उसके आचरण कैसे होते हैं और इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है? यहाँ अर्जुन, भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख अपनी जिज्ञासा को व्यक्त करते हुए उनसे उन लक्षणों के विषय में पूछ रहा है, जिनसे यह जाना जा सके कि एक त्रिगुणातीत मनुष्य की पहचान कैसे हो? यह प्रश्न मात्र अर्जुन का ही प्रश्न नहीं है, वरन अनेकों का प्रश्न है। अनेक साधकों, व्यक्तियों, जिज्ञासुओं के मन में यह प्रश्न होता है कि जो पुरुष, प्रकृति के इन तीनों गुणों से पार व परे चला गया है, वो जो भावातीत है, त्रिगुणातीत है, उसकी पहचान कैसे हो सकती है। इस एक जिज्ञासा को भी अर्जुन ने तीन चरणों में, तीन प्रश्नों के रूप में श्रीभगवान के सम्मुख रखा है। पहला प्रश्न तो अर्जुन का उन लक्षणों से संबंधित है, जो एक त्रिगुणातीत व्यक्ति की पहचान बन जाएँ, दूसरा प्रश्न उसके आचरण को लेकर है तो तीसरी जिज्ञासा यह है कि मनुष्य, किन प्रयासों को करने से त्रिगुणातीत हो पाता है।

इनको एक-एक करके समझने का प्रयत्न करते हैं। अनेक लोगों को यह भ्रम है कि जो व्यक्ति जीवनमुक्त हो जाता है, जो व्यक्ति त्रिगुणातीत हो जाता है—वह बाहर से कुछ भिन्न हो जाता है। लक्षण कहते ही उन गुणों को हैं, जो बाहर से गिनाए जा सकें। ऐसा पूछने का एक कारण यह है कि हमने इस संसार का वर्गीकरण इस आधार पर किया है, जिसे हम देख-सुन पाते हैं। इसीलिए लोग रंग, वर्ण, गोरे-काले, शारीरिक बल, लिंग, छोटे-बड़े आधारों पर बँट गए हैं। चूँकि हमारी प्रगति के मापदंड बाहरी हैं, अत: आंतरिक जगत के परिवर्तन को भी हम बाह्य लक्षणों के आधार पर जाँचने या मापने का प्रयत्न करते हैं। यदि कोई व्यक्ति गुणों से पार जाता है तो यह एक आत्मिक, आंतरिक परिवर्तन है और इसका बाहरी लक्षणों से कोई संबंध नहीं है।

यदि कोई आंतरिक शांति को प्राप्त करता है तो कौन-सा बाह्य लक्षण उसकी पुष्टि करता है? यदि कोई आत्मज्ञान को उपलब्ध हो तो उसके कोई सींग नहीं निकल आते कि जिनको देखकर यह कहा जा सके कि यह व्यक्ति अब भिन्न हो गया है। हिंदी में हम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं—आकृति व प्रकृति। आकृति बाह्य संरचना, बनावट व लक्षण का नाम है, तो प्रकृति आंतरिक संरचना का। त्रिगुणातीत होने पर व्यक्ति की आंतरिक संरचना भिन्न होती है, उसके भावों का रूपांतरण होता है। परिस्थितियाँ नहीं बदलतीं, पर उसकी मन:स्थिति बदल जाती है, घटनाक्रम नहीं बदलते, पर उन घटनाक्रमों के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। सच यह है कि त्रिगुणातीत व्यक्ति के बाहरी लक्षण बहुत ज्यादा भिन्न नहीं होते, बल्कि कई मायनों में तो वह और भी ज्यादा साधारण हो जाता है।

इसीलिए अर्जुन इसी जिज्ञासा के क्रम में अपना दूसरा प्रश्न भी श्रीभगवान के सम्मुख रखते हैं कि उस त्रिगुणातीत व्यक्ति का आचरण कैसा होता है? आचरण आंतरिक रूपांतरण की अभिव्यक्ति है। बाहर के लक्षण तो महापुरुषों के साधारण ही रहते हैं, परंतु उनके गुण, कर्म, स्वभाव व आचरण में महानता, दिव्यता व भगवत्ता परिलक्षित होती है। कई लोग बाहर की साधारणता से भ्रमित हो बैठते हैं और यह सोचने लगते हैं कि इस व्यक्ति में तो कुछ भी विशेष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा, पर सत्य यह है कि महापुरुषों के जीवन की असाधारणता, उनके बाह्य व्यवहार से नहीं, वरन आंतरिक गुणों व आचरण से प्रकट होती है। बाहर से तो वे ये दिखाने का कभी प्रयत्न नहीं करते कि वे किसी दृष्टि से विशिष्ट हैं, या उनमें कोई विशिष्ट लक्षण है। इसीलिए कई लोग परमपूज्य गुरुदेव से मिलते समय, यह धोखा खा जाते थे कि बाह्य लक्षणों में तो कुछ असाधारणता नहीं दिखाई पड़ रही; जबकि सत्य यह था कि परमपूज्य गुरुदेव की अलौकिकता, आंतरिक रूपांतरण के कारण थी। जो त्रिगुणातीत हो गया हो, उसे बाह्य आडंबर करने की, कोई विशेष परिधान पहनने की, कोई विशेष केशविन्यास रखने की आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी, ये मूर्खताएँ तो मात्र गुणों में उलझे व्यक्तियों के लिए हैं।

ऐसी ही एक कथा कन्फ्यूशियस के जीवन की भी है। एक बार कन्फ्यूशियस के कुछ शिष्य उनसे यह पूछने लगे कि उनकी दृष्टि में परमेश्वर का श्रेष्ठ भक्त कौन है? कन्फ्यूशियस ने कहा कि उनकी दृष्टि में परमेश्वर का श्रेष्ठ भक्त लिन्ची नामक किसान है, जो निकट के एक गाँव में रहता है। उत्सुकतावश अनेक शिष्य लिन्ची से मिलने उस गाँव पहुँचे। उन्होंने देखा कि लिन्ची एक साधारण किसान है और वह दिन भर बैठकर खेत में काम करता रहता है। शिष्यों को अपेक्षा थी कि लिन्ची दिखने में कुछ विशेष होगा या कोई नई तरह की प्रार्थना करता होगा।

ऐसा कुछ न घटने पर उनको निराशा हुई और वे वापस कन्फ्यूशियस के पास पहुँचे। अपनी निराशा कन्फ्यूशियस से व्यक्त करते हुए वे बोले—"गुरुदेव! लिन्ची तो बहुत ही साधारण किसान था। यह ठीक है कि वह निरंतर भगवान का ध्यान करता रहता है, पर हम तो सोचते थे कि वह हमें कोई विशिष्ट मंत्र या साधना बताएगा। उसने तो कोई नई साधना सिखाई ही नहीं।" यह सुन कन्फ्यूशियस बोले—"जिसका जीवन स्वयं प्रार्थना बन जाए, उसे अलग से शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। भगवान का भक्त बाहर के आचरण से नहीं, अंदर के गुणों से जाना जाता है।"

इसी तरह अर्जुन, श्रीभगवान से प्रश्न पूछते हैं कि उस व्यक्ति के जो त्रिगुणातीत हो गया है, उसके बाहरी लक्षण, आचरण क्या होंगे एवं त्रिगुणातीत बनने का क्या उपाय है? यह प्रश्न एक अद्भुत प्रश्न है, क्योंकि इसमें प्रश्न तीन होने के साथ-साथ, उनके तल भी तीन हैं। ये तीनों प्रश्न चेतना के भिन्न-भिन्न तलों से उभरकर आए हैं। शास्त्रों में प्रश्नों के तीन तल बताए गए हैं, पहला— कौतुक या कुतूहलवश पूछा गया प्रश्न। शास्त्र कहते हैं कि ऐसे प्रश्न बालसुलभ चपलता से उभरकर आते हैं। बच्चों के मन में एक प्रश्न उभरता है, पर वह एक कुतूहल से ज्यादा नहीं कहा जा सकता है। वो प्रश्न पूछते हैं, परंतु उसका उत्तर मिले या न मिले, इससे उन्हें ज्यादा सरोकार नहीं है। वो प्रश्न मात्र पूछने के लिए पूछा गया प्रश्न है। अर्जुन का पहला प्रश्न कुछ ऐसी ही चपलता से उभरा है, इसीलिए वे दूसरे तल से दूसरा प्रश्न करते हैं।

शास्त्र कहते हैं कि मानवीय चेतना के दूसरे तल से जिज्ञासा जन्म लेती है। जिज्ञासा माने वो प्रश्न जिसका उत्तर जानने की इच्छा हो, परंतु अभी यह प्रश्न जन्म-मरण का प्रश्न नहीं बन सका है अर्थात ऐसा प्रश्न नहीं बन सका है कि यदि उसका उत्तर न मिले तो व्यक्ति के लिए जीवन ही संभव न हो सके। अर्जुन का दूसरा प्रश्न एक ऊपरी तल से है, पर तब भी एक जीवन की दिशा का निर्णायक प्रश्न नहीं है। उसका तीसरा व अंतिम प्रश्न एक जीवन निर्धारक प्रश्न है। एक ऐसा प्रश्न है कि यदि उसका उत्तर पाने की इच्छा हमारे मन में गहरी बैठ जाए तो जीवन की दिशा बदल जाती है। इस तल से उभरे प्रश्न को जब वे भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख रखते हैं और उनसे पूछते हैं कि मनुष्य किन उपायों से इन गुणों से पार जा सकता है, त्रिगुणातीत बन सकता है तो श्रीभगवान अर्जुन को उसकी जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
॥ 22 ॥

शब्दविग्रह—प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, च, पाण्डव, न, द्वेष्टि, संप्रवृत्तानि, न, निवृत्तानि, काङ्क्षति।

शब्दार्थ—हे अर्जुन! (जो पुरुष) (**पाण्डव**), सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को (**प्रकाशम्**), और (**च**), रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को (**प्रवृत्तिम्**), तथा (**च**), तमोगुण के कार्यरूप मोह को (**मोहम्**), भी (**एव**), न (तो) (**न**), प्रवृत्त होने पर (उनसे)(**संप्रवृत्तानि**), द्वेष करता है (**द्वेष्टि**), और (**च**), न (**न**), निवृत्त होने पर (उनकी)(**निवृत्तानि**), आकांक्षा करता है (**काङ्क्षति**)।

अर्थात श्रीभगवान बोले—हे पांडव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह, ये सभी अच्छी तरह से प्रवृत्त हो जाएँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जाएँ तो इनकी इच्छा नहीं करता। ऐसा इसलिए कि उसका, गुणातीत महापुरुष का वृत्तियों के साथ राग-द्वेष चला जाता है। हमें जीवन में अनुकूलता या प्रतिकूलता अनुभव ही राग-द्वेष के कारण होती है। जहाँ राग जुड़ जाए, वहाँ अनुकूल भाव की प्रतीति होने लगती है और जिधर द्वेष का भाव जुड़ जाए, उधर प्रतिकूल भाव का अनुभव होने लगता है। श्रीभगवान कहते हैं कि जो व्यक्ति गुणातीत हो गया है; उसके अंतस् में अनुकूल परिस्थितियाँ बनी रहें व प्रतिकूल चली जाएँ—ऐसी इच्छा नहीं पनपती। उसके अंतःकरण में वृत्तियाँ आती-जाती हैं, पर वह स्वयं उनसे निर्लिप्त व निर्विकार रहता है। वृत्तियों का संबंध प्रकृति से है और वे उसके गुणों के कारण बनती व बिगड़ती हैं। जबकि हमारा संबंध, परमात्मा के साथ है और जब व्यक्ति त्रिगुणातीत होकर, या प्रकृति के गुणों से पार जाकर परमात्मा के सत्स्वरूप से एकाकार हो जाता है तो उसके मन में इससे न तो अनुकूल और न ही प्रतिकूल भाव जन्म लेते हैं।

ऐसा तब ही संभव है, जब मनुष्य में एक आंतरिक एवं स्थायी परिवर्तन घटित हो गया हो। लक्षण बाहरी होते हैं और असली बात भीतर होती है, जैसे बाहर से बार-बार अभ्यास दिलाकर यदि कोई परिवर्तन थोप दिया

जाए तो भी वह परिवर्तन व्यक्तित्व का अंग नहीं बन पाता है। आज वैज्ञानिक तरीकों से व्यक्ति के हॉर्मोन्स—अंदर के केमिकल्स बदल पाना संभव है, पर ऐसा कर देने मात्र से वह व्यक्ति त्रिगुणातीत नहीं हो जाता है। बाहर की बदलाहट सतही बदलाहट होती है, पर इससे कोई आत्मिक उत्थान या आध्यात्मिक उत्थान संभव नहीं हो पाता है, बल्कि कई अर्थों में तो इससे विपरीत ही घटता है कि आत्मिक उत्थान की समस्त संभावनाएँ पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं।

इसे ऐसे समझें कि हमारे द्वारा किसी घटना को घटने के लिए दो तत्त्वों की आवश्यकता है। एक तो उस गतिविधि के लिए नैसर्गिक तत्त्व हमारे शरीर में होने चाहिए तो दूसरा उन रासायनिक तत्त्वों से हमारी चेतना को जोड़ने के लिए एक तादात्म्य का भाव हमारे भीतर चाहिए। जैसे हिंसा करने के लिए हमारे भीतर संबंधित हॉर्मोन्स की आवश्यकता है तो साथ ही हिंसा का भाव उत्पन्न करने के लिए घटना विशेष के साथ तादात्म्य के कारण, उपजे क्रोध की भी आवश्यकता है। कामवासना के लिए यदि निश्चित रासायनिक हॉर्मोन्स की जरूरत है तो वो भाव, मन में उभरने के लिए उपजी वासना की भी आवश्यकता है। इनमें से शारीरिक या रासायनिक तत्त्वों को नष्ट कर देने से, आंतरिक तादात्म्य का अंत नहीं होता, जैसे—आँख फोड़ देने से मन में कुविचार आने बंद नहीं हो जाते। जैसे शरीर से कामवासना की ग्रंथि काट देने से नपुंसकता आ जाती है, पर उससे ब्रह्मचर्य नहीं पैदा हो जाता।

वो भाव, वो ब्रह्मचर्य का भाव या वो आंतरिक स्थिरता का भाव—साक्षीभाव से आता है और साक्षीभाव आंतरिक तादात्म्य के समाप्त हो जाने से उपजता है। वो आंतरिक तादात्म्य राग व द्वेष के कारण पनपता है। जैसे ही व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होकर, निर्विकार होकर, साक्षीभाव से कर्म करता है तो उसके व्यक्तित्व के भीतर एक जागरूकता, निर्मलता का भाव महसूस किया जा सकता है और इस भाव को ही श्रीभगवान 'प्रकाश' कह कर पुकारते हैं। वे कहते हैं कि राग-द्वेष से मुक्त पुरुष के शरीर, इंद्रिय एवं अंत:करण में एक विशिष्ट निर्मलता, प्रकाशरूप में आते हैं। सतोगुण के प्रभाव से उपजी इस प्रकाशवृत्ति का यदि उसमें स्वत: ही प्रादुर्भाव हो जाता है तो भी उसके ऊपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और जब यह प्रकाशवृत्ति तिरोहित हो जाती है तो भी वह उसके आगमन की प्रतीक्षा नहीं करता।

दूसरे शब्दों में उसके प्रादुर्भाव या तिरोभाव, दोनों के समय उसकी स्थिति अपरिवर्तित रहती है। इसी प्रकार काम, लोभ, स्पृहा एवं आसक्ति, जो रजोगुण की प्रवृत्ति से होने वाले कार्य हैं, वे भी गुणातीत पुरुष में नहीं होते। किसी भी स्फुरणा और क्रिया के प्रादुर्भाव और तिरोभाव में उसकी स्थिति सदा एक-सी बनी रहती है। इसी क्रम में तमोगुण की प्रचुरता के कारण होने वाला मोहभाव भी उसमें नहीं होता है। श्रीभगवान के कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि गुणों से पार गया मनुष्य, सतोगुण के कार्यरूप प्रकाश को, रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को प्रवृत्त होने पर न तो उन्हें बुरा समझता है और न उनकी निवृत्ति पर उनकी आकांक्षा करता है। यह निस्पृहता, यह निर्लिप्तता, यह निरासक्ति और यह निष्कामता ही गुणातीत पुरुष की पहचान कहे जा सकते हैं। ❑

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह के दौरान गांधी जी को लगा कि महिलाओं को भी इस अभियान में शामिल करने की जरूरत है। उन्होंने इसके लिए कस्तूरबा को प्रेरित करने का निश्चय किया। एक दिन उनसे बोले—"तुम अब मेरी विवाहिता नहीं हो।" कस्तूरबा ने तल्ख स्वर में पूछा—"यह क्या नई समस्या है?" तब गांधी जी ने गोरों द्वारा बनाए गए कानून की जानकारी देते हुए कहा—"ईसाइयों की तरह हमारा विवाह नहीं हुआ, इसलिए सरकार ने हमारा विवाह गैरकानूनी करार दे दिया।" ऐसा अनर्गल नियम सुनकर कस्तूरबा ने अपनी नाराजगी जाहिर की तो गांधी जी बोले—"यह नाराजगी तुम्हें सरकार के सामने जाहिर करनी चाहिए। यदि महिलाएँ इस कानून से नाखुश हैं तो उन्हें साथ मिलकर इसका विरोध करना चाहिए।" इस तरह गांधी जी ने महिलाओं को भी इस अभियान में शामिल कर लिया।

योगमार्ग पर चलने वाले साधकों को बहुधा यह शिकायत रहती है कि हमने तो कई वर्षों तक साधना की, फिर भी हमारे जीवन में साधना का कोई प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? उसका मनोनुकूल परिणाम क्यों नहीं आया? हमने तो विधिवत् साधना की, फिर भी हमें यथोचित लाभ क्यों नहीं प्राप्त हुआ? क्या योगशास्त्रों में वर्णित योग-साधनाओं की महिमा का कोई मूल्य नहीं? ऐसे कई प्रश्न हमारे मन में सहज ही उठने लगते हैं। वास्तव में योगशास्त्रों में वर्णित योग-साधनाओं की महिमा, महत्त्व व उनसे होने वाले आध्यात्मिक लाभ की बातें अक्षरश: सत्य हैं। इनमें निर्दिष्ट पथ पर चलकर ही अगणित संतों, साधकों, तपस्वियों व योगियों ने आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, मोक्ष, मुक्ति, समाधि जैसी महान उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं।

जैसे $2H_2 + O_2 = 2H_2O$ होंगे ही अर्थात हाइड्रोजन के 2 अणु व आक्सीजन के 1 अणु के मिलने पर H_2O अर्थात जल उत्पन्न होगा ही, वैसे ही यदि प्रयोग सही-सही किए गए हों तो उनकी सफलता अवश्यंभावी है। जैसे किसी रोग के ठीक होने में चिकित्सक द्वारा बताई गई औषधि व परहेज का समान महत्त्व है, वैसे ही योगाभ्यास के साथ-साथ हमारी जीवनशैली का भी समान महत्त्व है। हमारे चिंतन, चरित्र, व्यवहार का भी उतना ही महत्त्व है। यदि औषधि बहुत ही प्रभावशाली है, पर रोगी के द्वारा खान-पान का परहेज न हो तो अकेली औषधि अप्रभावी ही रहेगी। ठीक उसी प्रकार योग-साधना में सफलता हेतु योगाभ्यास के साथ-साथ योगसाधकों की जीवनशैली अर्थात रहन-सहन, शयन-जागरण, खान-पान, चिंतन-मनन आदि का भी उतना ही महत्त्व है। इस संदर्भ में अर्जुन के मन में उठ रही शंकाओं, संदेहों का निवारण करते हुए योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता—6/16 में कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

अर्थात—हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिलकुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। तब फिर किसका योग सिद्ध होता है? किसे योग में सफलता मिलती है? इन प्रश्नों के उत्तर में गीता—6/17 में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात—दु:खों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

इसके साथ ही योगाभ्यास में नियमितता का होना भी अनिवार्य है। अनियमित व आधे-अधूरे मन से की गई साधना कभी सफल नहीं हो सकती। हमें हर हाल में अपनी साधना में नियमित होना ही चाहिए। हमें हमारी साधना के प्रति अटूट श्रद्धा व विश्वास भी होना चाहिए। संपूर्ण श्रद्धा-समर्पण के बिना साधना सफल नहीं हो सकती। अपनी साधना में, मंत्र में, भक्ति में, आराध्य में, गुरु में वैसी ही अटल श्रद्धा होनी चाहिए, जैसा कि तप में लीन माँ उमा स्वयं के विषय में कह रही हैं। मानसकार ने लिखा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आपु कहहिं सत बार महेसू॥

अर्थात—शिव को प्राप्त करने की इच्छा से तप में लीन माँ उमा (पार्वती) कह रही हैं कि मेरा तो करोड़ जन्मों तक यही हठ रहेगा कि या तो शिव जी को वरूँगी, नहीं तो कुमारी ही रहूँगी। स्वयं शिव जी भी सौ बार कहें, तो भी नारद जी (अर्थात अपने गुरु) के उपदेश को न छोड़ूँगी।

इसी प्रकार अपने गुरु मतंग ऋषि के कहे अनुसार शबरी भगवान श्रीराम की प्रतीक्षा करती रही। उनके गुरु

महर्षि मतंग ने शरीर छोड़ने से पूर्व शबरी से कहा था— "पुत्री शबरी! तुम अपने मन में सदैव श्रद्धा-विश्वास बनाए रखना, जप-तप करते रहना। एक दिन प्रभु श्रीराम यहाँ तुम्हारी कुटिया में आकर तुम्हें अवश्य दर्शन देंगे।" शबरी ने वैसा ही किया और वह घड़ी भी आ गई, जब शबरी को भगवान श्रीराम ने स्वयं दर्शन दिए और उन्हें नवधा भक्ति भी प्रदान की।

अपने आराध्य, इष्ट, गुरु के प्रति इसी समर्पण के बल पर नरेंद्र—स्वामी विवेकानंद हो गए, मूलशंकर—स्वामी दयानंद सरस्वती हो गए, शंकर—आचार्य शंकर हो गए, आनंद—बुद्ध के प्रिय हो गए तथा श्रीराम—युगऋषि श्रीराम शर्मा आचार्य होकर जगतविख्यात हो गए। अस्तु साधना में संदेह व संशय नहीं, वरन अटूट श्रद्धा व निष्ठा का होना आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि ने भी योगसूत्र—1/30 में योगमार्ग में आने वाले नौ प्रकार के विघ्नों की चर्चा की है। वे हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्त्व। शरीर, इंद्रिय समुदाय और चित्त में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाना 'व्याधि' है। व्याधि उत्पन्न होने पर साधना में मन नहीं लगता है। अकर्मण्यता अर्थात साधनों में प्रवृति न होने का स्वभाव 'स्त्यान' है। अपनी शक्ति में या योग के फल में संदेह हो जाने का नाम 'संशय' है। संशय भी योगमार्ग का विघ्न है। योग-साधना में अवहेलना या लापरवाही करते रहना 'प्रमाद' है। आलस्य भी साधना में बहुत बड़ा विघ्न है। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति हो जाने के कारण चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाता है, उसे ही 'अविरति' कहते हैं। यह साधना ठीक नहीं, ऐसा मिथ्याज्ञान हो जाना 'भ्रांति दर्शन' है।

योग-साधना करते रहने पर भी किसी कारण से योग की स्थिति प्राप्त न होना एवं उसके कारण साधक के चित्त में असंतोष उत्पन्न होने से साधक बहिर्मुख हो जाता है। अतः यह भी साधना में एक तरह का विघ्न है। इसे ही 'अलब्धभूमिकत्व' कहते हैं। योग-साधना में चित्त की चंचलता अर्थात चित्त का न ठहरना भी विघ्न है, जिसे 'अनवस्थितत्व' कहते हैं। अतः हमें इन सभी विघ्नों को पार करना होगा, तभी हम परम लक्ष्य की अर्थात समाधि की प्राप्ति कर सकते हैं।

युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में साधना में सफलता हेतु तीन महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को प्रकाशित किया है। वे हैं—**मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् और आत्मवत् सर्वभूतेषु।** हमें समस्त स्त्री जाति को माता की दृष्टि से ही देखना चाहिए। हमें पुरुष या स्त्री, सबको पवित्र दृष्टि से देखना चाहिए, वासना की दृष्टि से नहीं। हमें दूसरों के धन का लालच कतई नहीं करना चाहिए और साथ ही हमें समस्त जगत में अर्थात सब में अपनी आत्मा का दर्शन करना चाहिए, साथ ही सभी भूतों, प्राणियों में स्वयं की आत्मा को देखना चाहिए।

इसके अलावा साधना के साथ स्वाध्याय, संयम (इंद्रिय संयम, विचार संयम, समय संयम, अर्थ संयम) एवं सेवा का उपक्रम भी चलते रहना चाहिए। इससे साधना में सफलता व सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी। इसी प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि साधना में सफलता हेतु हमें कामिनी और कंचन अर्थात वासना और लोभ का परित्याग कर देना चाहिए। वे कहा करते थे कि लोग सांसारिक वस्तुओं के लिए घड़ों आँसू बहाते हैं, पर ईश्वर के लिए कौन रोता है? इसी तरह हममें भी ईश्वर प्राप्ति की व्याकुलता होनी चाहिए।

अतः यदि हम योगशास्त्रों एवं योगियों द्वारा निर्देशित योगपथ पर सतत चलते रहें तो एक-न-एक दिन हमें सफलता अवश्य मिलेगी। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। यह सत्य है कि सच्चे मन से की गई साधना कभी निष्फल नहीं होती और इस अखिल ब्रह्मांड में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो पारमार्थिक पुरुषार्थ को निष्फल कर सके, इसलिए योगपथ, साधनापथ पर सदैव बढ़ते रहें। चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति.....................।

❑

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः। स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च॥

अर्थात—जिस प्रकार क्रमशः पानी की एक-एक बूँद गिरने से घड़ा भर जाता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करने से सब विद्याओं की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके धर्म और धन का संचय भी होता जाता है।

भारत योग व अध्यात्म की जन्मभूमि है तथा देवताओं की लीलास्थली होने के कारण देवभूमि भी है। स्वर्ग से धरा पर उतरी गंगा भारत को जीवंत तीर्थ बनाती है। यह अगणित संतों, साधकों, तपस्वियों व योगियों की कर्मभूमि व तपोभूमि है। साथ ही अध्यात्म के क्षेत्र में अगणित प्रयोग करने वाले ऋषियों की प्रयोगशाला भी है। उन्हीं ऋषियों में से एक हैं महर्षि वसिष्ठ, जिनका नाम भारतीय ऋषि परंपरा में बड़े आदर से लिया जाता है। उनके द्वारा रचित योगवासिष्ठ भारतवर्ष के आध्यात्मिक ग्रंथों में बहुत ही उच्च कोटि का माना जाता है।

इसमें वसिष्ठ ऋषि द्वारा भगवान श्रीरामचंद्र को दिए हुए आध्यात्मिक उपदेश का बहुत ही सरस व सरल भाषा में वर्णन है। इसके यौगिक, आध्यात्मिक व दार्शनिक सिद्धांत बड़े ही गहन, गंभीर व महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें जीव को शिव व नर को नारायण बनाने का अमृत व आध्यात्मिक रसायन सूत्रबद्ध है। महर्षि वसिष्ठ के अनुसार, संसार-सागर से पार होने की युक्ति का नाम ही योग है। योग के द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात सच्चिदानंद स्वरूप का अनुभव कर सकता है। योग का ध्येय आत्मा की तुरीय नामक परम स्थिति में अवस्थित हो जाना है, जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी का भी अनुभव न हो, और न इनके आगामी अनुभव का बीज भी रहे तथा जिसमें परम आनंद का निरंतर अनुभव होता रहे।

जैसे महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध हेतु अष्टांग योग एवं अन्य उपाय बताए हैं, वैसे ही योगवासिष्ठकार ने भी मन को शांत व पवित्र करने के विभिन्न उपायों की चर्चा *योगवासिष्ठ* के 3/91/34 एवं 5/91/40 श्लोकों में की है, जैसे—ज्ञानयुक्ति, संकल्प त्याग, भोगों से विरक्ति, वासना त्याग, अहंभाव का नाश, असंग का अभाव, कर्तृत्व भाव का त्याग, सर्वत्याग, समाधि का अभ्यास एवं लयक्रिया आदि।

चित्तवृत्ति निरोध में प्रथम उपाय है—**ज्ञानयुक्ति**। मन की सत्ता ही अज्ञान का कारण है। अतः जो वस्तु अज्ञानजन्य है, वह ज्ञान द्वारा तुरंत नष्ट हो जाती है। सत्य का ज्ञान होने पर यह भली भाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है।

इसी क्रम में **संकल्प का त्याग**—द्वितीय उपाय है। संकल्प मन का बंधन है और संकल्प का अभाव मन की मुक्ति है। संकल्प न रहने पर मन का नाश हो जाता है और मुक्ति का उदय होता है। संकल्प के शांत होने पर संसार के सब दुःख, मूल सहित नष्ट हो जाते हैं।

भोगों से विरक्ति योगवासिष्ठ में वर्णित तृतीय उपाय है। जब तक संसार के भोगों का नाश करने वाली विरक्ति उदय नहीं होती, तब तक दुःखों पर विजय पाने वाली परम निवृत्ति का अनुभव भी नहीं होता। संसाररूपी गड्ढे में पड़े हुए लोग तभी तक दुःखों में भ्रमण करते हैं, जब तक उनको विषयों से वैराग्य नहीं होता। विषयों से विरक्ति होने से मन सूक्ष्म होकर आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

चतुर्थ उपाय है—**वासना त्याग**। चित्त (मन) का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं। वह मनुष्य, जिसकी सभी वासनाएँ क्षीण हो गई हों; वह जीवनमुक्त हो जाता है, पर वासना के बंधन में पड़े हुए लोगों को उस अवस्था का अनुभव नहीं होता। वासना के परित्याग की सरल युक्ति यह है कि पहले तामसिक वासनाओं का परित्याग करके मन में मैत्री आदि की शुद्ध वासनाओं को रखा जाए, फिर उनको भी मन से निकालकर सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त हो जाया जाए।

अंत में जिस वासना द्वारा दूसरी वासना का त्याग किया जाए, उसको भी त्याग देना चाहिए। उस ज्ञानवान व्यक्ति ने जिसने कि इस भावना से कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, उसके मन में कभी वासना का उदय नहीं होता। जिस प्रकार दीपक से अँधेरा दूर होकर प्रकाश का उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञान से, आत्मज्ञान से, ब्रह्मज्ञान से वासना समूल नष्ट होकर शक्ति का अनुभव होता है।

अहंभाव का नाश पंचम उपाय है। अहंभाव के दृढ़ होने पर ही संसार भ्रमित करता है और अहंभावरूपी मेघ के क्षीण होने से चिदाकाश के निर्मल हो जाने पर ही आत्मारूपी सूर्य का प्रचंड प्रकाश होता है।

षष्ठ उपाय है—**असंग का अभाव**। जिसके हृदय में संसार की वस्तुओं के साथ संग है, मोह है, आसक्ति है, वही मनुष्य संसार-सागर में डूबा हुआ है और जिसका मन इस प्रकार के संग से रहित है, वही संसार से मुक्त है। संगरहित पुरुष वह है, जो न कर्मों के त्याग से प्रसन्न होता है और न कर्मों में आसक्त होता है। जो किसी भी कर्म का फल नहीं चाहता और जो सब अवस्थाओं में समान रहता है—वही जीवनमुक्त कहलाता है।

सप्तम उपाय है—**कर्तृत्व भाव का त्याग**। जैसे—अग्नि और उष्णता की एकता सदा रहती है अर्थात जहाँ अग्नि है, वहाँ उष्णता भी होगी, वैसे ही मन और कर्म की एकता सदा रहती है। दोनों में से एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है। कर्म का बीज आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ संकल्प है। हमारा संकल्प करना ही हमारे बंधन का कारण है। इसलिए उसको त्यागना चाहिए।

अष्टम उपाय है—**सर्वत्याग**। जब तक सब कुछ नहीं त्यागा जाता, तब तक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा है। जिसने बुद्धि द्वारा शंकाओं, संकल्पों, इच्छाओं और सभी निश्चयों का त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहलाता है।

नवम उपाय—**समाधि का अभ्यास** है। यदि मनुष्य निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाए तो उसे आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। सब प्रकार की आशा, इच्छा, संकल्प, निश्चयरूपी तृणों को भस्म करने वाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्नि का नाम समाधि है। समाधि उस अवस्था का नाम है, जिसमें चित्त स्थिर व नित्य तृप्त रहे और उसे पदार्थों के सत्य स्वरूप का ज्ञान हो। विषयों के प्रति किसी भी प्रकार की तृष्णा के न रहने का नाम समाधि है।

दशम उपाय के रूप में है—**लयक्रिया**। देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं, उनको जानकर उनमें इनको लय करने का यत्न करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि बिना उचित युक्ति के मन को जीतना कठिन है। जो लोग ठीक युक्तियों को छोड़कर हठपूर्वक मन को जीतना चाहते हैं, उनको प्रायः निराशा ही हाथ लगती है। अस्तु हमें उपर्युक्त दस उपायों को अपनाकर मुक्ति-लाभ अवश्य प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि ये सहज और सरल हैं। योगवासिष्ठ के अनुसार, यही हमारी मुक्ति और मोक्ष का मार्ग है। ❑

संत दादू दयाल जी दुकान पर कुछ पैसों का हिसाब देख रहे थे। बाहर बारिश हो रही थी। उसी समय दादू जी के गुरु वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि मेरा शिष्य हिसाब में डूबा हुआ है। वे बारिश में ही खड़े रहे। आधे घंटे में दादू जी का हिसाब हुआ, उन्होंने संतुष्टि की साँस ली। अब उनकी दृष्टि बाहर की ओर गई। अपने गुरु को बारिश में भीगते हुए देखा तो उन्हें अत्यंत दुःख हुआ। वे तुरंत दौड़कर बाहर गए। उन्हें ससम्मान दुकान के अंदर लाकर पूछा—"गुरुजी! आप कब से वर्षा में भीग रहे थे? आपने मुझे आवाज क्यों नहीं दी?" गुरुजी ने कहा—"दादू, तुम अपने कार्य में डूबे हुए थे। मैंने तो केवल आधा घंटा ही इंतजार किया है, परंतु परमेश्वर तो पता नहीं, कब से तेरा इंतजार कर रहा होगा।" गुरु की बात सुनते ही उनकी आँखें खुल गईं और वे सदा के लिए भगवान की भक्ति में निमग्न हो गए। सचाई यही है कि परमात्मा हमारा पता नहीं कब से इंतजार कर रहा है, परंतु हम संसार में खोए हुए हैं।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी – 4

अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप

(गतांक से आगे)

विगत अंक में आपने पढ़ा कि परमपूज्य गुरुदेव अपने इस उद्‌बोधन में श्रोताओं को कर्मकांड में निहित सत्य संदेश से परिचित करा रहे थे। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि कर्मकांड का वास्तविक उद्‌देश्य देवताओं की इष्ट पूजा करना मात्र नहीं, वरन अपने व्यक्तित्व में सद्‌गुणों को समाविष्ट करना है। देवपूजन का अर्थ अपने जीवन में यह निर्धारित करना है कि हम देवत्व के मार्ग पर अग्रसारित होना चाहते हैं अथवा पशुता के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हैं। जिनके अंदर दूसरों को देने का, सद्‌भावनाओं को बाँटने का एवं सच्चिंतन को प्रसारित करने का भाव आ जाता है, वे देवता बन जाते हैं। देवपूजन का अर्थ इन्हीं गुणों को अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् करना है। इसके उपरांत पूज्य गुरुदेव उपासना का मर्म समझाते हैं। वे कहते हैं कि उपासना का अर्थ शरीर की नहीं, बल्कि मन की नजदीकी से है। आइए हृदयंगम करते हैं उनकी अमृतवाणी को........

राजा से मित्रता का परिणाम

मित्रो! पंडित जी सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए? गाँव में सबके पास गए, सबसे कहा कि सेठ जी ने हमारे रुपये मार लिए हैं। हमारे रुपये दिलवाइए। कोई लिखा-पढ़ी, कोई सबूत? कोई नहीं है साहब। उस गाँव का एक जागीरदार था, राजा था। पहले जागीरदार राजा होते थे। वह जागीरदार के पास गया और कहा कि साहब! हमारे साथ ऐसी-ऐसी बेईमानी हो गई है। हमारे रुपये मारे गए। राजा ने कहा—"अच्छा तो एक और तरीका निकालते हैं। शायद तुक्का बैठ जाए और आपका पैसा मिल जाए।" लगाइए तुक्का। राजा ने कहा—"आप ऐसा करना कि जिस सेठ के यहाँ आपने पैसा जमा किया था, उसकी दुकान के आस-पास ही सड़क पर खड़े रहना। कल हमारी सवारी निकलेगी, सब लोग स्वागत करेंगे।" चार घोड़ों की बग्घी में बैठे हुए, तलवार पकड़े हुए राजा साहब की सवारी निकली। सब लोग फूल-माला लेकर खड़े हो गए। बैंडबाजा बज रहा था। घुड़सवार साथ में आगे-पीछे चल रहे थे।

पंडित जी, सेठ जी की दुकान के बराबर में खड़े हुए थे। राजा साहब ने देखा और कहा—"अरे पंडित जी! आप तो हमारे मित्र हैं, आप तो हमारे साथी हैं। आप तो हमारे साथ पढ़े थे। आप तो हमारे गुरु भी कहे जा सकते हैं। आप यहाँ आइए, हमारे पास बैठिए।" अरे साहब! हम तो गरीब हैं। आप गरीब कैसे हो सकते हैं? आप तो हमारे मित्र हैं, आइए पास बैठिए। राजा साहब ने उन्हें पास बिठा लिया और कहा—"आप अच्छे तो हैं? कोई कष्ट हो तो बताना।" दोनों बात कर रहे थे और सेठ जी की हवा खराब हो रही थी। उस जमाने में राजा साहब के पास सभी ताकतें थीं। वे जिसे चाहते, शहर से बाहर निकलवा सकते थे और उसका सारा-का-सारा माल जब्त कर सकते थे। जैसे ही राजा साहब सेठ की दुकान से थोड़ी दूर आगे गए, उन्होंने कहा—"जाइए पंडित जी, अब हमने अपना काम कर दिया। घर जाइए।"

पंडित जी बग्घी से उतर गए। उधर सेठ ने कहा—"भाई! यह तो भारी आफत आई। मुनीम जी! किसी तरीके से पंडित को बुलाकर लाइए और उनका पैसा चुकाइए, नहीं तो हमारी आफत आ जाएगी। शिकायत हो

जाएगी।'' कई लोग यहाँ-वहाँ दौड़ पड़े और देखने लगे। कुछ दूर पर पंडित जी दिखे। मुनीम जी ने कहा—''अरे पंडित जी। सेठ जी आपको कई दिनों से याद कर रहे हैं, चलिए।'' पंडित जी आ गए। सेठ जी ने कहा—''जिस दिन से आप गए हैं, तब से आज तक हम सिर्फ बहीखाते में आपका नाम ढूँढ़ रहे थे। आपके चार सौ रुपये जमा थे और पाँच सौ रुपये उसके ब्याज के हो गए और साहब! दो सौ रुपये हमारी ओर से कन्यादान के ले लीजिए।'' सेठ जी ने ग्यारह सौ रुपये दे दिए और पंडित जी को विदा कर दिया। कैसे मिल गया? राजा साहब के पास बैठने से, राजा साहब के पास एक घंटा बैठने का लाभ पंडित जी को मिल गया।

भगवान का सामीप्य है उपासना

मित्रो! उस परम शक्तिशाली सत्ता के पास अगर आप बैठ पाएँ, जो राजाओं का भी राजा है, महाराजाओं का भी महाराजा है, शक्तियों का स्वामी है, शक्तियों का पुंज है, जिसके एक इशारे पर सारी दुनिया तहस-नहस हो सकती है और जिसकी कृपा की एक किरण आने के बाद हम धन्य हो सकते हैं। ऐसी महान सत्ता के साथ अपने आप को नजदीक बिठा लेना, पास बिठा लेना—उसका नाम है—उपासना। उपासना का मतलब चावल बिखेर देना नहीं है। कैसे बैठा जा सकता है? कैसे मालदार बना जा सकता है? बेटे, इस तरीके से मालदार बना जा सकता है, जैसे कि भगवान के भक्त बने थे। कौन-कौन बने थे? एक-दो के नाम बता दीजिए? हाँ बेटे, बताता हूँ कि उपासना किस-किसने की थी। उस उपासना के ढंग को आपको जानना चाहिए।

मित्रो! हनुमान जी, रामचंद्र जी के पास बैठे और हर समय रामचंद्र जी से एक ही बात मालूम करते रहे कि आप हुक्म दीजिए, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ? उनका इम्तहान लेने के लिए कड़े-से-कड़े और असंभव-से-असंभव काम भगवान ने हनुमान जी को सौंपे। एक बार हुक्म दिया, तो समुद्र लाँघ गए। अरे साहब! हम डूब सकते हैं और हमारी टाँग टूट सकती है। कोई हर्ज की बात नहीं है, हम कहते हैं, इसलिए छलाँग लगा दीजिए।

एक बार हनुमान जी को हुक्म दिया गया कि जड़ी-बूटी का पहाड़ उखाड़ लाइए। अरे साहब! हम पहाड़ कैसे उखाड़ेंगे? हमारी उँगली के ऊपर एक पत्थर आ गया, तो उँगली का चूरा कर देगा। हनुमान जी चले गए और पहाड़ उठाकर ले आए। एक बार सीता जी को खोज लाने का हुक्म दिया गया। हनुमान जी लंका गए तो रावण ने उनकी पूँछ में आग लगवा दी। पूँछ की आग सारे बदन में फैल सकती थी और शरीर में छाले हो सकते थे। अस्पताल में जाते-जाते सेप्टिक हो सकता था और हनुमान जी मर सकते थे। उन्होंने कहा—जो होगा, सो देखा जाएगा। छलाँग लगाने वाले को कुछ नहीं हुआ।

सच्ची भक्ति का स्वरूप

मित्रो! भक्ति ऐसी होती है। भक्ति का तरीका यही है। भगवान से यह कहा जाता है, देवता से यह कहा जाता है, इष्टदेव से यह कहा जाता है कि आप हुक्म दीजिए, ताकि आपकी आज्ञानुसार चलने के लिए मैं तैयार हो जाऊँ। सारे-के-सारे देवताओं के और उपासना करने वालों के तरीके यही रहे हैं। भगीरथ तपस्या करने के लिए चले गए और गंगा जी का और शंकर जी का आदेश पालन करते हुए चले गए।

मित्रो! अपने लिए क्या माँगा? कुछ भी नहीं माँगा। शबरी को गुरु का हुक्म मिला कि सड़क पर झाड़ू लगाया कीजिए, जिससे कि जो विद्यार्थी वहाँ पढ़ने जाते हैं, तालाब में नहाने जाते हैं, उनके पैर में काँटे लग जाते हैं, उनसे बच सकें। सेवा कीजिए। सारी जिंदगी शबरी सेवा करती रही। झाड़ू लगाती रही। श्रेष्ठ काम करना भगवान का आदेश है। भगवान का आदेश अगर आप पालन करते हैं, तो वाल्मीकि के तरीके से, नारद जी के तरीके से, अर्जुन के तरीके से, गुरु गोविंद सिंह के तरीके से और दूसरे महान भक्तों के तरीके से, जिन्होंने चाहा कुछ नहीं, वरन अपना सब कुछ सौंपा। सौंपने के पश्चात, बीज के तरीके से गलने के पश्चात हमारी चीजें बढ़ सकती हैं और उनका विकसित होना संभव है। अगर हम सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं और हरदम लेने के लिए तैयार हैं, तो हमारी भक्ति एक तरीके से मजाक बन करके रहेगी और हमारी वह भक्ति वेश्यावृत्ति कहला करके रहेगी। वेश्यावृत्ति में नाच दिखाइए-पैसा पाइए, गाना गाइए-पैसा पाइए।

मित्रो! भगवान जी के साथ हमको वेश्यावृत्ति जैसा सलूक नहीं करना चाहिए। चौबीस हजार का अनुष्ठान करवाइए, बेटा लाकर दीजिए। अच्छा, तो यह मामला है, इसलिए तू अनुष्ठान कर रहा है। हाँ, महाराज जी! मैं तो इसीलिए कर रहा था। बेटे, कामना सहित जो भी उपासना है, वह उपासना नहीं हो सकती। वह खालिस वेश्यावृत्ति

है। भजन का इससे कोई ताल्लुक नहीं है और भक्ति का इससे कोई ताल्लुक नहीं है। यह तो अमुक चीज पाने के लिए, तमुक चीज पाने के लिए किया गया है। अगर कुछ पाने के लिए किया गया है, तो बराबर की कीमत चुका दीजिए। सौ रुपये दीजिए।

बेटा चाहिए, तो देखिए कि बेटा कितने दाम का आता है? गुरुजी! बेटा तो बहुत दाम का आता है। बैल कितने का आता है? बैल तो एक हजार रुपये का आता है और हाथी? हाथी गुरुजी! छह हजार का आता है और घोड़ा? अच्छे घोड़े तो बहुत दाम के आते हैं और बेटा कितने दाम का आता है? गुरुजी! बेटा तो पच्चीस हजार का, चालीस हजार का आता होगा। नब्बे हजार का आता होगा, तो बेटे! दे, निकाल रुपया भगवान जी को और दुकानदारी कर। नहीं गुरुजी! मैं तो अक्षत चढ़ा सकता हूँ, धूपबत्ती जला सकता हूँ और चौबीस हजार का जप कर सकता हूँ।

अच्छा बेटे, जरा यह तो बता कि यह सब तेरा सामान कितने दाम का हुआ? चौबीस हजार पाठ कितने दाम का है? अजी साहब! तीन घंटे रोज लगाता हूँ। तेरा एक घंटा कितने दाम का है? एक रुपया, एक घंटे की मजदूरी होती है। तीन घंटे लगाता है। हाँ साहब! नौ दिन लगाता हूँ। चल सत्ताईस रुपये का तेरा भजन हो गया। हाँ साहब! और क्या-क्या किया? धूपबत्ती जलाई। कितने पैसे की जलाई? चवन्नी की जलाई और क्या-क्या खरच किया? चावल खरच किया। धूपबत्ती खरच हुई, रोली खरच हुई। कितने का हुआ सब? बताता क्यों नहीं?

अरे साहब! एक रुपये का माल हो गया। सत्ताईस रुपये का तेरा श्रम और एक रुपये का लंगड़-खंगड़-अट्ठाईस रुपये हो गए। बेटे, अट्ठाईस रुपये का तो रबर का गुड्डा आता है। असली बेटा अट्ठाईस रुपये में नहीं आ सकता। बेटा लेना हो तो—छब्बीस हजार रुपये निकाल, छब्बीस हजार रुपये का अनुष्ठान कर। नहीं, महाराज जी! मैं तो फोकट में लाऊँगा, तो फिर तेरी भक्ति कैसी हो सकती है? यह भक्ति नहीं है। फिर क्या चीज है? यह तो जालसाजी है।

सच्चे प्रेम की कथा

मित्रो! इसका एक और मजेदार उदाहरण है, जो मुझे बार-बार याद आ जाता है। आज की हमारी और आपकी भक्ति के संबंध में एक उदाहरण ऐसा ही है। एक बार ऐसा हुआ कि मजनू, लैला के लिए फकीर हो गया और कहने लगा कि बस, मेरा ब्याह होगा तो लैला के साथ होगा और अगर नहीं होगा तो मैं इसी तरह पागल बना रहूँगा और उसी का नाम लेता रहूँगा। लैला को मालूम हुआ कि हमारे लिए एक लड़का पागल हो गया है, तो उसने दुकानदारों से कहा कि ब्याह-शादी तो हमारी उससे नहीं हो सकती, लेकिन तुम ऐसा करना कि जब कभी भी ये छोकरा दुकान के सामने भूखा-प्यासा दिखाई पड़े, तो उसे बुला करके खाना खिला दिया करना और पैसे हमारे यहाँ से मँगा लिया करना।

जब कभी भूखा-प्यासा मजनू उधर से निकलता, तो दुकानदार आवाज देते—क्यों रे मजनू! तैने कुछ खाया है? नहीं साहब! नहीं खाया है। तो ले, यहाँ बैठकर खा ले। चार आने-आठ आने का खा लिया। दुकानदार ने उसे नोट कर लिया। महीने भर में 2-5 रुपये का जिस दुकानदार का बिल पहुँचता, लैला के यहाँ से मिल जाया करता। वह पैसे भेज देती।

मित्रो! एक दिन मजदूरों ने पूछा—"क्यों रे मजनू! तू कल वहाँ बैठकर जलेबी खा रहा था, वह कहाँ से आई थीं?" अरे! हमारी लैला खिलाती है। हम तो मजनू हैं। मजनू में क्या बात है? तुम्हें हमारी शक्ल दिखाई नहीं पड़ती? बाल बिखरे हैं, कुरता फटा है। ऐसे फटेहाल मजनू होते हैं? उन्होंने कहा कि तब तो हम भी मजनू बनेंगे और दूसरे दिन से एक और मजनू बन गया। लंबा तिलक, लंबी माला, कंठा पहन लिया और ये बन गया मजनू। कैसे मजनू? जैसे आप और मैं। ऐसे-ऐसे मजनू उस दुकानदार के यहाँ जा बैठे। लाइए साहब! जलेबी लाइए, कचौड़ी लाइए। उनके पास कोई पैसा या आइडेंटिटी कार्ड तो था नहीं। फिर तो दो-चार-छह-आठ और अस्सी मजनू आ गए। मजनुओं की भीड़ बढ़ गई। उन सबके बिल बने और लैला के पास पहुँचे। 2000 रुपये का बिल देख करके वह हक्का-बक्का रह गई, पसीना आ गया।

मित्रो! फिर क्या हुआ? उसने नौकरानी को बुलाया और कहा—"अब क्या करना चाहिए? 2000 रुपये कहाँ से आएँगे? अब तो जेवर बेचकर रुपये चुकाने पड़ेंगे। लेकिन आइंदा के लिए जो सही में मजनू है, वही काबू में रहा आए और बाकी भाग जाएँ, तो अच्छा है।" इसके लिए हम एक रास्ता निकाल देते हैं। लैला की नौकरानी एक कटोरा लेकर के गई और सब मजनुओं को इकट्ठा किया। उसने कहा कि तुम लोगों को मालूम है कि नहीं? क्या है? लैला सख्त बीमार है।

अरे! लैला बीमार है तो हम कैसे जिएँगे? उसने कहा कि अगर लैला को जिंदा रखना चाहते हो, तो बैठ जाओ। हाँ, जिंदा रखना चाहते हैं, तो एक तरीका है, मैं एक कटोरा लाई हूँ। डॉक्टर ने कहा है कि एक कटोरा खून चाहिए, जो लैला को चढ़ाया जाएगा। आप एक कटोरा खून दे दें, तो लैला अच्छी हो सकती है, जो नए मजनू थे, उन्होंने देखा कि यह तो आफत आ गई। जरा-सा खून होता तो अलग बात थी, पर यह तो कटोरा भर करके खून माँग रही है। उन्होंने कहा—भाई! मैं तो थोड़ी देर में आता हूँ। कोई-न-कोई बहाना बना करके, कोई पेशाब के बहाने, कोई पानी पीने के बहाने सब मजनू चले गए।

मित्रो! केवल एक मजनू बाकी रह गया। सबके जाने के बाद जब नौकरानी वापस जाने लगी, तो असली मजनू ने कहा—"लैला के लिए खून चाहिए तो मेरे जिस्म में छह कटोरा खून है। एक कटोरा खून तो तू अभी लेकर जा सकती है। पाँच कटोरा खून अभी और शरीर में बाकी है। नंबर से आती रहना और जब तक मैं जिंदा हूँ, मेरे रक्त की एक-एक बूँद ले जाना।" उसने सड़क पर पड़ा एक पत्थर उठाया और अपने सीने को चीर डाला और खून दे दिया। खून लेकर बाँदी चली, तो उसने कहा—"फिर से आप आएँगी ना?" उसने कहा—"अभी नहीं आऊँगी।" बाँदी ने ड्रेसिंग कर दी, खून बंद हो गया। बस, वही एक असली मजनू था। आपने सुना होगा कि बाद में लैला और मजनू का ब्याह हो गया था।

आत्मसुधार है भजन

मित्रो! खून देना, सेवा करना, अनुदान देना भक्ति की निशानी है। 'भज सेवायाम्'। 'भजन' जिस शब्द से बना है, वह मनोकामना पूरी करने के अर्थ में नहीं बना है, वरन सेवा के अर्थ में बना है, परमार्थ के अर्थ में बना है। आत्मसंशोधन के अर्थ में बना है। मित्रो! यह देव भावना और देवबुद्धि अगर आपके भीतर पैदा हो जाए, तो आपको क्या करना चाहिए और क्या करना पड़ेगा? आपको देवताओं की कंपनी में भरती होना पड़ेगा।

अगर आप देवताओं की कंपनी में भरती हो जाएँ, तो आपको क्या करना चाहिए? आपकी रीति-नीति में क्या फरक आना चाहिए? यह हम आपको पंचोपचार की प्रक्रिया के माध्यम से समझाते हैं। पंचोपचार की प्रक्रिया क्या है? देवपूजन है। देवताओं की स्थापना करने के साथ-साथ आपको देवताओं का पूजन करना चाहिए, जैसा कि हम आपको कराते हैं। 45 मिनट की उपासना में हमने आत्मशोधन के साथ-साथ पूरे-के-पूरे दो अध्याय देवपूजन पर लिखे हैं। देवपूजन की विधियाँ बताई हैं। तरीका बताया है। उसमें पाँच चीजें ऐसी हैं, जिन्हें यदि आप काम में लाएँ, तो देवता आपसे प्रसन्न हो जाएँगे। देवता पूर्ण संतुष्ट हो जाएँगे और देवता की समीपता का, देवता की उपासना का पूरा-पूरा लाभ आपको मिल जाएगा।

पंचोपचार में क्या-क्या है? अरे भाई! वही है—"**पाद्यं समर्पयामि, अर्घ्यं समर्पयामि, धूपं, दीपं, नैवेद्यं समर्पयामि।**" यही सब चढ़ा दिया करें, तो देवता प्रसन्न हो जाएँगे। हाँ, महाराज जी! यह तो बड़ा सस्ता तरीका निकल आया। रोजाना कितने का खरच आएगा? अरे बेटे! इसमें क्या रखा है? चम्मच से पानी डाल दिया कर, 4-6 चावल के दाने डाल दिया कर, एक धूपबत्ती जला दिया कर, चंदन की एक बूँद टपका दिया कर, बस, हो गया—देवपूजन।

मित्रो! यह कितने पैसे का हो गया? 1-2 पैसे का है। महीने भर में कितने का हो गया? 4 से लेकर आठ आने का चक्कर है। कोई खास बात नहीं है तो महाराज जी! इससे कौन प्रसन्न हो जाएगा? बेटे, सब देवता प्रसन्न हो जाएँगे। महाराज जी! आपने तो बड़ा सस्ता तरीका बता दिया। इतने शक्तिशाली देवता, इतने सामर्थ्यवान देवता, इतने ज्ञानी देवता, इतनी कम चीजों से प्रसन्न हो जाएँगे, तब तो मैं हमेशा करता रहूँगा। हाँ बेटे, हमेशा करते रहना।

कुछ फायदा हो जाएगा? कुछ खास फायदा नहीं हो सकता, तो देवता प्रसन्न हो जाएँगे? बेटे, मैं कुछ कह नहीं सकता। देवताओं से पूछ करके बताऊँगा कि वे कर्मकांडों के द्वारा प्रसन्न हो सकते हैं कि नहीं हो सकते, लेकिन कर्मकांडों के पीछे जो प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं, शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं—अगर इनको आप धारण करेंगे, तो मैं यकीन दिलाता हूँ—अपने सारे जीवन के अनुभव की साक्षी और शपथ खाकर कह सकता हूँ कि देवता प्रसन्न हो जाएँगे। प्रसन्न ही नहीं, आपके चरणों को चूमेंगे और आपके पीछे-पीछे घूमेंगे। आपसे मैं, फिर से यह कहता हूँ कि इन कर्मकांडों के पीछे जो शिक्षाएँ, जो प्रेरणाएँ, जो दिशाएँ भरी पड़ी हैं, उन्हें समझने की कोशिश करेंगे तो आपको वह सब मिलेगा, जिसके कि आप अधिकारी हैं। अगर आप उन्हें नहीं समझेंगे, तो फिर आप करते रहिए कर्मकांड। क्या मिलेगा? कुछ नहीं मिलेगा, खाली हाथ रहना पड़ेगा।

कर्मकांड की प्रेरणाएँ

मित्रो! कर्मकांडों की क्या प्रेरणाएँ हैं, क्या शिक्षाएँ हैं, क्या दिशाएँ हैं? हम जल चढ़ाते रहते हैं—"**पाद्यं समर्पयामि, स्नानं समर्पयामि, अर्घ्यं समर्पयामि।**" इनका क्या मतलब है? बेटे, जल नम्रता का प्रतीक है, सज्जनता का प्रतीक है, शीतलता का प्रतीक है। सरलता का प्रतीक है, सहजता का प्रतीक है। आर्द्रता का, आँसुओं का प्रतीक है। दूसरों के दुःख और दरद में हमारे आँसू आने चाहिए। हमारी प्रकृति नम्र होनी चाहिए। हमको जल के तरीके से शीतल होना चाहिए। हमारा स्वभाव और प्रकृति जल के तरीके से हो, तो समझना चाहिए कि हमारा व्यक्तित्व उस जल की भाँति है, जो जल भगवान पर चढ़ाया जाता है। हम अपना व्यक्तित्व जल के तरीके से ठंढा, शीतल और नम्र बना करके विकसित करें, तो हमको भगवान का प्यार मिल सकता है। जल के अंदर यही शिक्षा है।

मित्रो! इसके अंदर एक और शिक्षा है। हमारे पास पाँच संपदाएँ हैं। ये पाँचों-की-पाँचों अनंत संभावनाओं को अपने भीतर समेटे हुए हैं। यदि हम इन पाँचों का पालन करें, तो हमें पूरा लाभ मिल जाएगा। पंचोपचार पूरा कर लें, तो क्या मिल जाएगा? तब हमें पाँच संपदाएँ मिल जाएँगी। इन पाँचों संपदाओं को हम भगवान के चरणों पर अर्पित करें, ताकि वे पाँचों सिद्धियों के रूप में, पाँचों देवताओं के रूप में पुष्पित, पल्लवित होकर के हमारे सामने आकर के खड़ी हो जाएँ। पाँचों विभूतियों को आप बीज के तरीके से बोयें, जो बरगद के तरीके से, कल्पवृक्ष के तरीके से उग आएँ। नहीं साहब! हम तो बीज बोयेंगे नहीं, तो आप पाएँगे भी नहीं। बोइएगा नहीं तो पाइएगा भी नहीं। इसलिए जो पाँच चीजें भगवान ने हमारे पास दी हैं, उन पाँचों चीजों को हम देवत्व के खेत में बोयें। देवता के खेत में, आदर्शवादिता के खेत में, भलमनसाहत के खेत में, लोक-मंगल के खेत में अपनी विभूतियों को बोयें।

[क्रमशः समापन अगले अंक में]

एक सेठ जी अपने बेटों को व्यापार सौंपकर शेष जीवन, भजन करने के उद्‌देश्य से वृंदावन में कोठी बनाकर रहने लगे। वे प्रातः बाँकेबिहारी के दर्शन को जाते और शेष समय सत्संग में व्यतीत करते। सरदियों में एक दिन जब वे दर्शन हेतु जा रहे थे तो फूलवाले के पास उन्हें एक अत्यंत सुंदर कमल का फूल दिखाई दिया। उन्होंने उसे बाँकेबिहारी को अर्पित करने का सोचा। उन्होंने उसका मूल्य पूछा तो वह 5 रुपये का था। वे उसे खरीदने वाले ही थे कि एक नवाब अपनी बेगम के साथ वहाँ गुजरा। उसकी बेगम को भी वह फूल बहुत भा गया। अब नवाब ने फूलवाले से फूल का मूल्य पूछा तो उसने 10 रुपये बताए। सेठ जी यह समझते हुए 10 रुपये फूलवाले को देकर कमल खरीदने लगे तो नवाब ने 50 रुपये निकालकर रख दिए। इस तरह दोनों के मध्य फूल के लिए बोली लगने लगी, जो बढ़ते-बढ़ते 50 हजार तक पहुँच गई, जिस पर नवाब चुप हो गया। सेठ जी ने कमल खरीदा और बाँकेबिहारी को चढ़ा दिया। किसी ने सेठ जी से पूछा—"सेठ जी! आपने अपना सारा धन एक फूल को प्राप्त करने में लगा दिया।" सेठ जी बोले—"मैंने सोचा कि जब नवाब एक बेगम के प्रेम में इतना धन दाँव पर लगा सकता है तो क्या मैं बाँकेबिहारी के लिए इतना भी नहीं कर सकता?"

ज्ञान से दीक्षित होने का संस्कार

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के आध्यात्मिक ऊर्जा से ओत-प्रोत दिव्य परिसर में नए सत्र का आगाज ऋषि परंपरा के अनुरूप किया जाता है। अन्य शिक्षण संस्थानों से हटकर यहाँ नवप्रवेशियों के लिए 'ज्ञानदीक्षा संस्कार' जैसे नूतन प्रकल्प की परंपरा प्रारंभ की गई है। परिसर की स्थापना से लेकर आद्यतन सभी सत्रों का शुभारंभ ज्ञानदीक्षा से ही होता आया है। हमारी गुरुकुल शिक्षण प्रणाली में ज्ञानदीक्षा विद्यार्थी जीवन का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, जिसके माध्यम से विद्यार्थियों के भीतर के सुसंस्कारों को जगाने और उनमें आध्यात्मिकता को उतारने का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पूर्ण होता है। आजकल विद्यार्थियों का अध्ययन समाप्त होने पर दीक्षांत समारोह तो सभी जगह आयोजित किए जाते हैं, परंतु अध्ययन आरंभ होने से पूर्व ज्ञानदीक्षा के आयोजन की अवधारणा इस परिसर की अपनी अलग पहचान बन गई है।

परिसर में पधारने वाले नवप्रवेशी छात्र-छात्राओं के चेहरे पर यहाँ प्रवेश प्राप्त कर लेने की खुशी देखते ही बनती है। इस खुशी के पीछे उनकी कड़ी मेहनत, विश्वास और इस विश्वविद्यालय के आदर्शों के अनुरूप चलने का जज्बा स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विद्यार्थियों की यह खुशी केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है, बल्कि इस अनूठे विश्वविद्यालय के अंग बनने की खुशी एवं गौरव उनके माता-पिता एवं अभिभावक भी उतनी ही तीव्रता से अनुभव करते हैं।

उल्लेखनीय है कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय में संचालित होने वाले सभी पाठ्यक्रम विशेष हैं और इतनी ही विशेष है यहाँ की शिक्षणशैली। यहाँ विद्यार्थियों को अपने-अपने विषयों में पठन-पाठन-अध्ययन के साथ-साथ रचनात्मक एवं व्यावहारिक कुशलता और आंतरिक श्रेष्ठता को विकसित करने वाले विषयों को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है। शिक्षा और विद्या का समन्वित आदर्श सिखाने वाले इस परिसर में विद्यार्थियों को अन्य संस्थानों के विद्यार्थियों की तुलना में दोगुनी श्रम-साधना-पुरुषार्थ की कसौटी से गुजरना पड़ता है।

ऐसे में यदि कोई कमजोर मन:स्थिति और कठिन श्रमशीलता से जी चुराने वाला विद्यार्थी यहाँ प्रवेश लेता है तो वह स्वत: ही यहाँ का अंग नहीं बन पाता है। कठिन शारीरिक और मानसिक श्रम की पात्रता और दृढ़ इच्छाशक्ति से सुसज्जित तथा योग्य छात्र ही यहाँ प्रवेश प्राप्त कर लाभान्वित हो पाते हैं। विश्वविद्यालय प्रशासन भी इस दिशा में अत्यंत सतर्कता और सावधानी बरतता है, ताकि इस परिसर में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी यहाँ के उच्च आदर्शों और कठिनतम शिक्षण-प्रक्रिया के लिए सुपात्र और श्रेष्ठतम साबित हों।

यही कारण है कि परिसर में प्रवेश पाने वालों के लिए प्रवेश-परीक्षा को थोड़ा कठिन रखा गया है तथा समय-समय पर इसमें आवश्यक परिवर्तन भी किए जाते हैं। ऐसी कठिन चुनौती होने के बावजूद भी प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वर्ष-दर-वर्ष बढ़ोत्तरी हो रही है। इस वर्ष भी पूरे देश में अलग-अलग ग्यारह केंद्रों पर सत्र—2018-2020 के लिए प्रवेश-परीक्षा आयोजित की गई थी, जिसमें भारत सहित अन्य आठ देशों के लगभग 2100 विद्यार्थियों ने भागीदारी की। इनमें से उत्तीर्ण हुए लगभग 500 विद्यार्थियों ने प्रवेश प्राप्त किया है।

ये नए प्रवेशार्थी ही इस सत्र की ज्ञानदीक्षा का हिस्सा बने थे। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के इस ज्ञानदीक्षा पर्व में मुख्य अतिथि के रूप में पधारे स्वामी विश्वेश्वरानंद जी ने ज्ञानदीक्षा की इस अनूठी परंपरा का हार्दिक अभिनंदन किया और इसे भारत ही नहीं, बल्कि सारे विश्व में अपनाए जाने के लिए आवाहन भी किया। उन्होंने कहा कि उपनिषदों में दिए गए सूत्रों पर आधारित इस ज्ञानदीक्षा की जितनी भी प्रशंसा की जाए, उतनी कम है। ऐसे ही प्रयोगों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण संभव है। उल्लेखनीय है कि स्वामी विश्वेश्वरानंद जी लंबी अवधि से हरिद्वार में स्थित प्रसिद्ध संन्यास आश्रम के वर्तमान अध्यक्ष एवं साधुबेला प्रतिष्ठान के प्रमुख हैं।

कार्यक्रम के अध्यक्ष के रूप में विराजमान श्रद्धेय कुलाधिपति जी डॉ० प्रणव पण्ड्या ने नवप्रवेशी विद्यार्थियों

एवं आचार्यों को संयुक्त रूप से ज्ञानदीक्षा का संकल्प दिलाया और उन्हें देव संस्कृति विश्वविद्यालय की परंपरा के अनुरूप जीवन को अपनाने की शिक्षा प्रदान की। ज्ञानदीक्षा का संकल्प कराने के अतिरिक्त श्रद्धेय कुलाधिपति जी ने अपना अध्यक्षीय उद्बोधन भी प्रदान किया।

इस उद्बोधन में उन्होंने विद्यार्थियों को संस्कृति शब्द का मूल अर्थ समझाते हुए कहा कि संस्कृति शब्द का अर्थ कल्टिवेशन या खेती से होता है। यदि हम अपने जीवन में गुणों की खेती करते हैं तो हम संस्कारवान बनते हैं और ऐसे ही संस्कारवान विद्यार्थियों को देव संस्कृति विश्वविद्यालय अपने यहाँ प्रवेश देने का प्रयत्न करता है। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा कि आज हर शैक्षणिक संस्थान में विद्यार्थियों को एक पैकेज की तरह से देखा जाता है; जबकि देव संस्कृति विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को एक जिम्मेदार नागरिक की तरह से देखने का भाव है। उनके अंदर एक अच्छे नागरिक बनने के गुण विकसित हों, यही सोच ज्ञानदीक्षा समारोह के माध्यम से प्रदान की जाती है।

ज्ञानदीक्षा समारोह को संबोधित करते हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कुलपति श्री शरद पारधी जी ने सभी विद्यार्थियों, आचार्यों एवं अभिभावकों का स्वागत किया एवं उन्हें इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर बहुत-सी शुभकामनाएँ प्रदान कीं। इस अवसर पर ज्ञानदीक्षा पर्व की पृष्ठभूमि को समझाते हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति ने विद्यार्थियों से कहा कि जीवन में सौभाग्य के क्षण विरले ही आते हैं। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में प्रवेश के माध्यम से विद्यार्थियों को ऐसा सौभाग्य मिला है कि वे परमपूज्य गुरुदेव एवं परम वंदनीया माताजी की इस दैवीय योजना का अभिन्न अंग बन सकते हैं। यदि वे अपनी जीवनशैली व जीवन के प्रति दृष्टिकोण को इसी भाव के साथ विकसित करें तो यह ज्ञानदीक्षा का पर्व उनके जीवन में सौभाग्य लाने का एक ऐतिहासिक क्षण बन सकता है।

ज्ञानदीक्षा समारोह में दीक्षा संकल्प कर्मकांड श्री उदय मिश्रा जी द्वारा संपन्न कराया गया। इस अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किए जा रहे जर्नल एवं ई-पत्रिका का विमोचन भी किया गया। ज्ञानदीक्षा के उपरांत विद्यार्थियों ने उन्मुखीकरण कार्यक्रम के माध्यम से विश्वविद्यालय में अपनी यात्रा प्रारंभ की। ❑

एक राजा अत्यंत दयालु एवं धर्मात्मा था, किंतु उसका पुत्र अत्यंत दुष्ट स्वभाव का था। राजा ने उसे सुधारने का बहुत यत्न किया, परंतु सारे प्रयास विफल ही सिद्ध हुए। सभी उसके उत्पातों से परेशान रहते थे। कुलगुरु को जब इस संदर्भ में ज्ञात हुआ तो वे राजकुमार से मिलने गए। वे उसे राजवन में घुमाते हुए एक नीम के वृक्ष के पास ले गए और उसका एक पत्ता तोड़कर राजकुमार को चखने को दिया। राजकुमार का मुँह पत्ता चखने पर कड़ुआहट से भर उठा। उसने कुलगुरु से तो कुछ नहीं कहा, परंतु उसने क्रोधित होते हुए सेवकों को बुलवाकर उन्हें आदेश दिया कि वे उस पेड़ को जड़ से उखाड़ डालें। कुलगुरु ने पूछा—"उसने ऐसा क्यों किया?" राजकुमार ने उत्तर दिया—"गुरुवर! यह पेड़ इतना कड़ुआ है, इसका कड़ुआपन अनेकों तक पहुँचता, इसलिए मैंने इसे सदा के लिए नष्ट कर दिया।" कुलगुरु बोले—"वत्स! जो प्रजा तुम्हारे व्यवहार के कड़ुएपन से दुःखी है, यदि वह भी प्रत्युत्तर में ऐसा ही व्यवहार तुम्हारे साथ करे तो तुम्हें कैसा लगेगा?" राजकुमार को अपनी भूल का एहसास हुआ और उसने अपना व्यवहार सदा के लिए बदल दिया।

अपनों से अपनी बात

आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु नवरात्र-साधना

आख्यानों में ऐसा पढ़ने को मिलता है कि किसी समय संपूर्ण विश्व-वसुधा, भारत को जगद्गुरु के रूप में देखा, सुना व माना करती थी। निश्चित रूप से यह सौभाग्य भारतभूमि को प्राप्त हुआ और उसे यह सौभाग्य प्रदान करने के पीछे वैश्विक समुदाय का उद्देश्य भारतीय आध्यात्मिक चिंतन को सम्मानित करना था। यदि हम ध्यान से देखें तो भारतीय संस्कृति के मूल में जो तत्त्व-चिंतन समाहित है, वो अध्यात्म ही है। यदि भारतीय इतिहास में से आध्यात्मिक सोच को विदा कर दिया जाए, ऋषियों-मुनियों के आप्तवचनों को भुला दिया जाए तो न भारत बचेगा, न भारतीय संस्कृति बचेगी और न ही वह विरासत शेष रहेगी, जिस पर अनेक पीढ़ियाँ फख्र व नाज करती आ रही हैं।

यह कहने में हमें जरा-सा भी संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के मूल में अध्यात्म है एवं अध्यात्म के मूल में देने की, बाँटने की, त्याग की, बलिदान की भावना है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की धुरी माना जा सकता है। जिसे इस भाव के आधार पर सभी प्राणियों में एक ही प्रभु की सत्ता नजर आने लगती है, फिर उसके चिंतन में या जीवन-दृष्टिकोण में स्वार्थ, संकीर्णता, क्षुद्रता, लोभ, लालच, ये मेरा और वो तेरा जैसी भावनाएँ रह कैसे सकती हैं।

जब हमें जीवन के हर उपक्रम के पीछे एक ही दैवीय सत्ता कार्य करती दिखाई पड़ती है, तो हम जान जाते हैं कि कृपा एवं कोप, करुणा एवं क्रोध सब एक ही दैवीय सत्ता के दो भिन्न रूप हैं। ऐसे में मनुष्य के चिंतन से स्वार्थपूर्ण संकीर्णता विदा हो जाती है और फिर उससे कृपणता का कार्य कर पाना संभव नहीं होता। ऐसे में उसके मन में देने की भावना, करुणा की भावना, त्याग की भावना, बलिदान की भावना जन्म लेती है और इसे ही दूसरे शब्दों में अध्यात्म कहकर पुकारा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की जड़ें इसी आध्यात्मिक भाव में सुरक्षित रही हैं।

दुर्भाग्यवश वर्तमान समय में अध्यात्म का प्रचलित अर्थ मनोकामनाओं की पूर्ति से लगा लिया जाता है। कोई चमत्कार घट जाए, कहीं कुछ विचित्र या बाजीगरी से पूर्ण घटता दिखे तो लोग उसे ही अध्यात्म मानकर बैठ जाते हैं। हमने भगवान से भीख माँगी और बदले में हमें कुछ मिल जाए, आध्यात्मिक चिंतन इस भावना का नाम नहीं है। सच पूछा जाए तो अध्यात्म का अर्थ पाने से कम और देने से अधिक है। यदि हम आध्यात्मिक नियमों का परिपालन करते हैं तो हमारी निष्ठा इस बात से तय नहीं होती कि हमें क्या मिला, बल्कि इस बात से तय होती है कि हमने क्या किया।

प्रश्न ये नहीं है कि हम कितनी सुख-सुविधाएँ बटोर सके, बल्कि प्रश्न ये है कि हमने समाज को अच्छा बनाने के लिए, श्रेष्ठ आचरणों को जीवन में धारण करने के लिए, उत्कृष्ट परंपराओं की स्थापना के लिए क्या किया। हम भगवान का भजन घंटों करते हों, पर यदि दु:खियों के दु:ख को दूर करने के लिए तथा भटकों को राह दिखाने के लिए हमारे अंत:करण में कोई भाव न उमड़ते हों तो इसका अर्थ यह ही निकाला जाना चाहिए कि अभी हम भारतीय संस्कृति की मूल विचारधारा से अनभिज्ञ रह गए हैं।

भारतीय संस्कृति ने सदा से सेवा, करुणा, मानवता के पोषण एवं संरक्षण पर बल दिया है। दधीचि का उदाहरण कौन नहीं जानता? जिन्होंने मानवता की रक्षा के लिए अपनी अस्थियाँ तक दे देने में संकोच नहीं किया। उनका उदाहरण हम गर्व, सम्मान के साथ लेते हैं; क्योंकि त्याग की उस भावना को ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार माना गया है। आरुणि का उदाहरण जिन्होंने आश्रम की रक्षा के लिए अपने शरीर को लगाने में संकोच नहीं किया, इसी परंपरा का संवाहक है। राजा रंतिदेव का वह उदाहरण, जिसमें उन्होंने प्रजा के कल्याण के लिए स्वयं की भूख-प्यास को एक तरफ रख दिया, भारतीय संस्कृति एवं भारतीय अध्यात्म की नींव कहे जा सकते हैं।

जिसे लोग प्रचलन में अध्यात्म मान बैठते हैं, वैसा कोई चिंतन भारतीय विचारधारा में स्थान नहीं रखता। ऐसा कोई अध्यात्म नहीं है, जिसका लक्ष्य मात्र लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं और मनोकामनाओं को पूर्ण करना हो। भारतीय आध्यात्मिक चिंतन में तो इतनी शक्ति रही है कि वह स्वयं का कल्याण कर पाने में एवं लाखों अन्य का उद्धार कर पाने में समर्थ एवं सशक्त है। आध्यात्मिक शक्ति के स्वामी प्रह्लाद में इतनी शक्ति न होती तो असुरों के राजा एवं समस्त तांत्रिकों के गुरु शुक्राचार्य की सारी कुचेष्टाओं के आगे भी वो कैसे स्थिर खड़ा रह पाता? ऐसी शक्ति आंतरिक पवित्रता, प्रभुभक्ति, त्याग-बलिदान के पथ पर अग्रसर होने के साहस से जन्म लेती है। ये गुण ही भारतीय संस्कृति का मूल रहे हैं और इन्हें अपनाए बिना इस शक्ति का अर्जन कर पाना संभव नहीं हो सकता। जिस जीवनपद्धति में त्याग, परोपकार, सेवा, लोकहित एवं आत्मपरिष्कार के उद्देश्य जुड़े हुए न हों, वह पद्धति आध्यात्मिक कदापि नहीं हो सकती और जो आध्यात्मिक नहीं है, वह जीवनपद्धति भारतीय नहीं हो सकती।

महाभारत में प्रसिद्ध कथा आती है कि अज्ञातवास के दिनों में पाँचों पांडव एक छोटे गाँव में ठहरे हुए थे। उस गाँव में एक दैत्य एक घर से एक नरबलि लेता था। जिस घर में पांडव रुके थे, उसी घर के एक पुरुष का बलि के लिए नाम आ गया। घर की मालकिन यह जानकर रोने लगी तो उसे सांत्वना देते हुए कुंती ने कहा— ''बहन! आप चिंता न करें। मेरे पाँच पुत्रों में से एक तुम्हारे पुत्र के स्थान पर चला जाएगा।'' ऐसा कहकर कुंती ने पाँचों पांडवों से यह बात कही तो पाँचों पांडव प्रसन्नता से भर उठे कि आज दूसरे की रक्षा के लिए, लोकहित के लिए बलिदान होने का अवसर मिलेगा।

पाँचों पांडव ही इस काम के लिए जाने को तैयार थे, इसलिए उनके नामों की परची तैयार कर उनमें से एक को चुनने का उपक्रम किया गया। नाम भीम का निकला और अपना नाम निकलने पर भीम आह्लादित हो उठे और बोले कि आज तो मेरा भाग्य ही खुल गया, जो मुझे मानवता के लिए बलिदान होने का अवसर मिल रहा है। यह भाव, जो परहित के लिए अपने 'स्व' की बलि देना जानता हो—यह भाव ही भारतीय आध्यात्मिक बोध का केंद्र रहा है। इसीलिए मानसकार ने धर्म की परिभाषा ये कहकर की है कि-

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

जहाँ एक समय इसी देश में भीम ने परहित के लिए बलिदान देने को अपना सर्वोपम सौभाग्य माना तो वहीं आज लोग लॉटरी खुलने को, सरकारी नौकरी मिलने को, विदेश जाने का अवसर मिलने को, पुत्र हो जाने को एक सौभाग्य मानते हैं। क्या मानवीय जीवन का सौभाग्य इतने छोटे पैमानों से तय हो सकता है? नहीं! भारतीय चिंतकों ने सदा से यह माना कि मनुष्य के जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य आत्मपरिष्कार एवं लोक-मंगल ही हो सकते हैं। इन्हीं को आध्यात्मिक विचारधारा की धुरी भी कहा जा सकता है।

आज के परिप्रेक्ष्य में यह बात इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है; क्योंकि नवरात्र-साधना का उद्देश्य भी स्वयं का परिष्कार करने से, बेहतर इनसान बनने से एवं लोक-मंगल करने व समाज को बेहतर बनाने से है। यदि इस दिशा में और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं किए गए तो हमारे द्वारा की जा रही सैकड़ों मालाएँ परिणाम की दृष्टि से कुछ भी नया ला पाने की स्थिति में नहीं होंगी।

नवरात्र-अनुष्ठान के स्वरूप को भी ध्यान से देखा जाए तो यह अनुमान सहजता से लग जाता है कि उसमें इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति का भाव केंद्र में रखा गया है। जहाँ तप-साधना, संयमित जीवन, अनुशासित चिंतन का उद्देश्य आत्मपरिष्कार के लक्ष्य को प्राप्त करना रहा है तो वहीं दान, सेवा, परोपकार, वृक्षारोपण, अशक्तों की सेवा जैसे साथ चलने वाले संकल्पों का संबंध लोक-मंगल से रहा है। इसी को ध्यान में रखकर परमपूज्य गुरुदेव ने गायत्री परिवार के मुख्य उद्देश्यों में पीड़ा व पतन के निवारण को जोड़ा, ताकि अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप लोगों की दृष्टि से ओझल न हो।

गायत्री परिजनों को इस नवरात्र-अनुष्ठान में यह विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि इन दोनों संकल्पों की बराबर पूर्ति होती रहे। इनसान के रूप में जीवन मिलने पर यदि हम इनसानियत से वंचित रह गए, मानव जीवन मिला, पर मानवता न मिल सकी तो यह जीवन व्यर्थ गया, ऐसा समझा जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति के मूल में त्याग-बलिदान, सेवा-संयम, आत्मपरिष्कार, लोक-मंगल, इनसानियत, मानवता जैसे भाव विद्यमान रहे हैं।

उनके अभाव में साधना, मात्र साधन बनकर के रह जाती है और उससे कोई गंभीर आध्यात्मिक उपलब्धि अर्जित नहीं हो पाती। यदि आध्यात्मिक उत्कर्ष, हमारे प्रयासों का लक्ष्य है तो उसका प्रारंभ इन्हीं संकल्पों को पूर्ण करने से होगा। नवरात्र-साधना का उद्देश्य कामनाओं की पूर्ति नहीं, बल्कि व्यक्तित्व का रूपांतरण है और अभी जिन बिंदुओं पर चर्चा की जा रही थी वे मिलकर मानवीय चेतना को ही रूपांतरित करते हैं। मनोकामनाओं की पूर्ति आध्यात्मिक साधना का परिणाम हो सकती है, ऐसी सोच अपरिपक्व मानसिकता वालों को शोभा दे सकती है, पुण्यात्मा-धर्मात्मा गायत्री परिजनों को नहीं। 6 साल का बच्चा गुब्बारा लेने और टॉफी खाने की जिद करेगा तो उसे बालहठ समझकर भुलाया जा सकता है, परंतु यह व्यवहार 30 साल के आदमी को शोभा नहीं देता। अपने परिजन, आध्यात्मिक सोच की दृष्टि से परिपक्व हैं, वे अवगत हैं कि भारतीय ज्ञान की मूल विरासत आध्यात्मिक उत्थान में है और अध्यात्म का मूलस्वरूप स्वयं को बेहतर इनसान बनाने में एवं पीड़ा-पतन के निवारण में। इस बार की नवरात्र-उपासना को भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु करने की जरूरत है। ❑

चंडकौशिक ने प्रचंड तप तो किया, परंतु अपने क्रोध पर विजय न प्राप्त कर सके। वह दुर्गुण उनमें यथावत् बना रहा। एक दिन उनके पैर के नीचे एक केंचुआ कुचलकर मर गया। साथी तपस्वी ने इस ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो वे क्रोधित हो उठे। उस क्रोध के आवेश में वे उसे मारने दौड़े। उस उन्माद में उन्हें राह में आया एक पेड़ भी दिखाई न पड़ा। दौड़ते हुए उसी से टकरा गए। वही चोट, उनकी मृत्यु का कारण बन गई। मोहवश उन्होंने उसी आश्रम में जन्म लिया और साधना के द्वारा उसी के संचालक बने, फिर भी उनका क्रोध नहीं गया।

एक बार उनके कुछ भक्त कुछ उपहार लेकर के उनके सामने उपस्थित हुए। भक्तों के व्यवहार में उन्हें कोई त्रुटि दिखाई पड़ी तो वे क्रुद्ध होकर उन्हें मारने दौड़ पड़े। भक्त डरकर भागे और पीछे-पीछे चंडकौशिक आवेश में भागने लगे। उस आवेश ने उन्हें पागल-सा बना दिया। मार्ग में एक खुला कुआँ पड़ा, वे उसी में गिर गए और उनकी पुनः मृत्यु हो गई। तीसरी बार भी चंडकौशिक का जन्म उसी आश्रम में हुआ। इस बार वे एक भयंकर विषधर सर्प की देह लेकर जन्मे। जो कोई उधर से निकलता, उसी का पीछा करते और उसके प्राण हर लेते।

एक बार भगवान महावीर उधर से निकले तो चंडकौशिक ने उन पर हमला बोल दिया। भगवान के पैर को उन्होंने डसा, तब भी उनके चेहरे पर मुस्कराहट यथावत् बनी रही। आश्रमवासी चंडकौशिक को मारने आए तो भी भगवान महावीर ने उन्हें रोक दिया। भगवान महावीर की करुणा को देख चंडकौशिक पश्चात्ताप करने लगे और क्षमा माँगने लगे। भगवान बोले—"भद्र! दोष तुम्हारा नहीं, क्रोध का है। यह मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इसीलिए तपस्वी होते हुए भी तुम्हें निम्न योनियों में गिरना पड़ा। इसलिए पहले क्रोध पर विजय प्राप्त करो, फिर तप करो।" चंडकौशिक ने भगवान महावीर के उपदेश को शिरोधार्य करते हुए षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त की और उसके पश्चात उनके द्वारा की गई साधना, उनके लिए सिद्धि का द्वार बनी।

सक्षम समर्थ साधना

साधना सक्षम बने, जो व्यक्ति का जीवन बदल दे,
और फिर जिससे स्वयं ही, श्रेय पथ पर, प्राण चल दे।

चल नहीं पाए दिशा में, भक्त मीरा की तरह हम,
ओढ़ भी पाए नहीं चादर, कबीरा की तरह हम,
जीभ से जपते रहे, पर भाव से रीते रहे हम,
मात्र जप को साधना ही मानकर जीते रहे हम,

साधना ऐसी करें, जो ईश में निष्ठा अटल दे।

जोड़ लें हम साधना को आज जीवन-साधना से,
मंत्र-जप को हम भिगो लें लोक हित की भावना से,
तब स्वयं में हम अकल्पित दिव्यता अनुभव करेंगे,
देह-मन-अंतःकरण फिर ब्रह्मवर्चस से भरेंगे,

दृष्टि में शुचिता, हृदय में शांति दे, वाणी विमल दे।

प्राण-पारावार चारों ओर ही लहरा रहा है,
दिव्य अमृत-मेघ ईश्वर अनवरत बरसा रहा है,
मात्र जीवन-साधना से आत्मबल इतना जगाएँ,
हम इसी तन में अपरिमित प्राण का अनुदान पाएँ,

शांति चिंतन में भरे जो, कर्म में ऊर्जा-अनल दे।

व्यक्ति बदलेगा, तभी परिवार भी उत्कृष्ट होगा,
तब उसी की ओर सारा जग सहज आकृष्ट होगा,
दिव्यता के संगठन की शक्ति ऐसे ही बढ़ेगी,
सतयुगी सोपान पर फिर मनुजता ऊँची चढ़ेगी,

देख पर-पीड़ा, कि जो संवेदना मन में विकल दे।

साधना आधार हो, पर संगठन इतना सबल हो,
देख जिसकी शक्ति को भयभीत होता दुष्ट-दल हो,
हम बनें सक्षम, करें पूरे सभी कर्त्तव्य अपने,
हम वहन कर लें स्वयं, मिलकर, सभी दायित्व अपने,

आसरा ढूँढ़े न, इतना जो हमें दृढ़ आत्मबल दे।
साधना सक्षम बने, जो व्यक्ति का जीवन बदल दे।

—शचीन्द्र भटनागर

▶शक्ति संरक्षण वर्ष◀

गायत्री शक्तिपीठ, चितई,अल्मोड़ा (उत्तराखंड) में गायत्री माता की भव्य प्राणप्रतिष्ठा

वृक्ष गंगा अभियान के अंतर्गत इमलीखेड़ा, कालापीपल (म.प्र.) में 5001 तरु पुत्र रोपण महायज्ञ

अखण्ड ज्योति
(मासिक)
R.N.I. No. 2162/52

प्र. ति. -01.09 . 2018
Regd No. Mathura-025/2018-2020
Licensed to Post without Prepayment
No.: Agra/WPP-08/2018-2020

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में नवीन सत्रारंभ-33वाँ ज्ञानदीक्षा समारोह संपन्न

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक—मृत्युंजय शर्मा द्वारा जनजागरण प्रेस, बिरला मंदिर के सामने, जयसिंहपुरा, मथुरा से मुद्रित व अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामंडी, मथुरा-281003 से प्रकाशित। संपादक—डॉ० प्रणव पण्ड्या।
दूरभाष—0565—2403940, 2400865, 2402574 मोबा—09927086291, 07534812036, 07534812037, 07534812038, 07534812039
फैक्स—0565—2412273 ईमेल— ajsansthan@awgp.org